आशाधरभट्टविरचितः

कोविदानन्दः

स्वोपज्ञ-कादम्बिनीव्याख्योपेतः
दीपिकया हिन्दी-व्याख्यया च समलंकृतः

सम्पादक एवं व्याख्याकार
महामहोपाध्याय
डा० ब्रह्ममित्र अवस्थी
एम० ए०, पी-एच० डी० साहित्य-साख्ययोगाचार्य
एव
कु० इन्दु अवस्थी एम० ए०



इन्दु प्रकाशन
८/३ रूप नगर, दिल्ली-७

८/३ रूप नगर, दिल्ली
(११०००७)

प्रथम संस्करण
१९७८
मूल्य : पन्द्रह रुपये

मुद्रक
शाकुन्तल मुद्रणालय
३४, बलरामपुरहाउस
इलाहाबाद–२

प्रकाशकीय

डा० अवस्थी के आठ मौलिक अथवा सम्पादित ग्रन्थो का प्रकाशन हमारे यहाँ से हो चुका हैं तथा इनके कुछ ग्रन्थ अन्य संस्थानो से भी प्रकाशित हुए है। इन ग्रन्थो का विद्वानो मे पर्याप्त आदर हुआ है। आपकी एक अन्य मौलिक रचना पातञ्जल योग शास्त्र : एक अध्ययन को भी हमने प्रकाशन के लिए स्वीकार कर के प्रेस मे दे दिया है। इसी बीच आपने वृत्तिसमुच्चय के विशाल सग्रहग्रन्थ की योजना हमारे सामने रखी। उनके प्रस्ताव को स्वीकार करने मे साधनो की कमी बाधक थी, तो अस्वीकार करने मे उनकी विद्वत्ता श्रम और उत्साह से मिलकर बना हुआ उनका प्रभाव बाधक था। थोडे सोच-विचार के बाद हमने भी साहस करने का निश्चय किया, किन्तु इस शर्त के साथ कि वे इसे खण्ड मे प्रकाशित कराने को तैयार हो। अन्त मे यही निश्चय रहा कि इस ग्रन्थ को खण्डो मे ही प्रकाशित करके विद्वानो के हाथो मे प्रस्तुत किया जाए, इस क्रम मे वृत्ति समुच्चय के प्रथम गुच्छक के प्रथम भाग का प्रकाशन हो चुका है, जिसमे अभिधावृत्तमातृका, शब्दव्यापारविचार एव वृत्तिवार्त्तिक का संकलन हुआ है।

साधनो की कमी रहने के कारण और विद्वान् लेखक के प्रयाग में स्थित रहने के कारण प्रयाग के प्रेसो से ही हमने बात की और अलग-अलग प्रेसो को मुद्रण का कार्य शीघ्रता के लिए दिया गया। फिर भी हमे अपेक्षा से अधिक देर इस ग्रन्थ को आपके हाथो तक पहुँचाने मे हो रही है, इसका हमे दु ख है।

वृत्तिसमुच्चय के इस खण्ड कोविदानन्द एवं त्रिवेणिका को वर्त्तमान स्थूल स्वरूप देने का श्रेय क्रमशः शाकुन्तल मुद्रणालय के स्वामी श्री उपेन्द्रनाथ त्रिपाठी एवं इलाहाबाद ब्लाक वर्क्स के स्वामी अग्रवाल बन्धुओ को ही है। मैं उनकी हृदय से आभारी हूँ, साथ ही इस ग्रन्थ के सम्पादक एवं व्याख्याकार डा० ब्रह्ममित्र अवस्थी एव कु० इन्दु अवस्थी एम० ए० की अत्यन्त आभारी हूँ कि उन्होने अपने महत्वपूर्ण ग्रन्थ के प्रकाशन के लिए हमे अवसर प्रदान किया है।

सुशीला शास्त्री

निवेदन

कुछ वर्षो पूर्व भाषाविज्ञान का अध्यापन करते हुये अर्थविज्ञान के प्रकरण मे अर्थविषयक आधुनिक चिन्तन को छात्रो के समक्ष प्रस्तुत करते हुए अकस्मात् मेरा ध्यान प्राचीन आचार्यो द्वारा किये गये अर्थविचार की ओर गया। उस समय यह मन मे हुआ कि छात्रो के समक्ष एतद्विषयक चिन्तन का एक क्रमिक इतिहास प्रस्तुत करते हुए उसे प्रस्तुत किया जा सके। इस प्रसंग मे मैने कुछ खोजना चाहा तो मेरा प्रयत्न अन्धकार मे भटकने जैसा ही रहा। उसी समय यह विचार हुआ कि एतद्विषयक सामग्री का संकलन किया जाए। प्रयत्न करने पर जब कुछ जानकारी मिली तो ग्रन्थो को खोज पाना दुष्कर लगा। किन्तु गुरुजनो और मित्रो की सहायता से और कभी पुस्तकालय मे प्राय न पढी जाने वाली पुस्तको को पलटते हुए जो सामग्री मिल सकी है, उसे प्रस्तुत करने का संकल्प किया। समय और साधन के अत्यन्त सीमित रहने के कारण इस कार्य को यथा-समय कर पाना तो सभव न हुआ और न ही इच्छा के अनुरूप। हमारा विचार है कि मीमासा सूत्र उसके भाष्य, न्याय-सूत्र और उसके भाष्य तथा इनके वार्त्तिको इनकी टीका प्रटीकाओ तथा व्याकरण शास्त्र सहित इन शास्त्रो की परम्परा मे लिखे गय ग्रन्थो की शब्दशक्ति (अर्थविज्ञान) विषयक सामग्री का एकत्र सम्पादन एव एतद्विषयक लघु ग्रन्थो का व्याख्या सहित सम्पादन करके विद्वान् पाठको के समक्ष एक साथ प्रस्तुन किया जा सके।

इस विषय मे मैने कुछ बड़े प्रकाशको से चर्चा की, किन्तु उन्हे प्राय उदासीन ही पाया। इस प्रसङ्ग मे हम इन्दुप्रकाशन के व्यवस्थापको के अत्यन्त आभारी है कि इन्होने हमारे प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार किया। किन्तु किन्ही कारणो से उनका यह विचार बना कि ऐतिहासिक क्रम को छोड करके भी अशो मे इस योजना को सम्पन्न किया जाए, तथा लघु ग्रन्थो का प्रकाशन सर्वप्रथम किया जाए। मुझे इस प्रस्ताव को विवशतापूर्वक स्वीकार करना पडा, क्योकि इसके अतिरिक्त अपनी कल्पना को आशिक रूप से भी साकार करने का कोई अन्य उपाय न था। फलत इसी रूप मे वृत्तिसमुच्चय आप के समक्ष क्रमशः प्रस्तुत हो रहा है।

मुझे विश्वास है कि शब्दशक्ति के सम्बन्ध मे इस सामग्री को पाकर विद्वानो को प्रसन्नता होगी। इसी विश्वास के साथ यह विद्वानो के समक्ष प्रस्तुत है।

वृत्तिसमुच्चय के इस विशृंखलित रूप मे सर्वप्रथम मुकुलभट्टकृत अभिधावृत्तमातृका, मम्मटकृत शब्दव्यापारविचार, अप्पयदीक्षितकृत वृत्तिवार्त्तिक प्रस्तुत हो चुके है। आशाधरभट्टकृत कोविन्दानन्द एवं त्रिवेणिका आप के हाथ मे है। शालिकनाथ कृत **वाक्यार्थमातृकावृत्ति**, वाचस्पतिमिश्रकृत तत्त्वविन्दु, पार्थसारथिमिश्र कृत **वाक्यार्थ निर्णय**; चन्द्रकान्त विद्यालंकार कृत **शब्द मञ्जरी** तथा **मौनिकृष्णभट्ट** कृत वृत्तिदीपिका शीघ्र पृथक्-पृथक् प्रस्तुत हो रही है। शब्दशक्तिविषयक सुविदित शब्दशक्ति प्रकाशिका आदि ग्रन्थ इसमे सम्मिलित नहीं है। वृहद् ग्रन्थो मे से एतद्विषयक ग्रन्थाशो का सम्पादन हो रहा है, वे पाठको के समक्ष बाद मे प्रस्तुत हो सकेंगे।

आशा है विद्वान् पाठक इस प्रसग मे अपने सुझावो से हमे कृतार्थ करेंगे। इस सम्पादन कार्य मे मेरी पुत्री कुमारी इन्दु अवस्थी एम० ए० ने हमारे सहायक के रूप मे कार्य करने का सकल्प लेकर सम्पूर्ण कार्य को स्वयं इस प्रकार सम्भाल लिया है कि सम्भवतः इनके बिना यह कार्य पूर्ण ही न हो पाता। इस अपूर्व सहयोग को मैं ईश्वर की कृपा मान कर स्वीकार कर रहा हूँ।

—**ब्रह्ममित्र अवस्थी**

वैशाख पूर्णिमा स० २०३५ वि०

कोविदानन्द विषयानुक्रमणी

भूमिका

शब्द शक्तियो का विवेचन करने वाले ग्रन्थो मे कोविदानन्द एव त्रिवेणिका ऐसे लघुग्रन्थ है, जिनमे अभिधा लक्षणा और व्यञ्जना इन तीनो शक्तियो का सक्षिप्त किन्तु महत्त्व पूर्ण विवेचन हुआ है। लोकभाषा मे वेणी शब्द का प्रयोग जलधारा एव गुम्फित केशपाश आदि अनेक अर्थो मे होता है, किन्तु वेणी पद के प्राधान्य मे निष्पन्न त्रिवेणी पद प्रयाग मे हुए गगा यमुना और अन्त सलिला सरस्वती के पवित्र सगम स्थल के लिए सुविदित है। आशाधरभट्ट ने इन ग्रन्थों में अन्यतम ग्रन्थ का त्रिवेणिका नामकरण करते हुए स्व भी स्वीकार किया है कि इस नामकरण के मूल मे अभिधा लक्षणा एव व्यजना पर क्रमश गगा यमुना और सरस्वती का आरोप रहा है।[1]

अभिधा लक्षणा एव व्यञ्जना इन तीन शक्तियों पर ही समस्त वाग्व्यापार मुख्यत काव्यव्यापार निर्भर है। इन शक्तियो का क्या स्वरूप है? इन तीनो के मानने की क्या आवश्यकता है? तथा इनकी सीमाए क्या है? साथ ही इनके विवेचन का इतिहास क्या है? इन प्रश्नो पर विस्तृतरूप से विचार अभिधावृत्तमातृका शब्दव्यापारविचार एव वृत्तिवार्तिक की भूमिका एव परिशिष्टोमे पर्याप्त मात्रा मे किया जा चुका है, जो वही द्रष्टव्य है। प्रासङ्गिक रूपसे यहा इतना ही कहना उचित होगा कि व्याकरण न्याय एव मीमासा शास्त्र के क्षेत्र मे इन तीनो शक्तियों की अपेक्षा चाहे हो या न हो, किन्तु कवि का काव्य इन शक्तियो मे अन्यतम के अभाव मे इतना पङ्गु हो जाएगा कि वह कवि के मनोभावो को सहृदय के मानस तक पहुँचाने मे समर्थ ही नही हो सकता। न्याय व्याकरण या मीमासा की अभिधा की सीमा जितनी है, कवि की अभिधा की सीमा उतनी सकुचित नही है, उसकी सीमा का विस्तार अपार है। उदाहरणार्थ हम कालिदास के एक वाक्य को देखे। दिलीप वसिष्ठ के निदेश से नन्दिनी की विधिवत् सेवा का सकल्प लेकर प्रात नित्य नियम से निवृत्त होकर सुदक्षिणा द्वारा माल्य आदि से अभिपूजित नन्दिनी को दोहन एव वत्सद्वारा दुग्धपान के अन्तर वन को चराने के लिए ले चलते है। नन्दिनीके खुर न्याय से पवित्र रेणु वाले मार्ग पर दिलीप की पत्नी सुदक्षिणा भी कुछ दूर अनुगमन करती है—

तस्याः खुरन्यासपवित्रपांसुमपासुलाना धुरि कीर्तनीया।
मार्ग मनुष्येश्वरधर्मपत्नी श्रुतेरिवार्थ स्मृतिरन्वगच्छत्॥ रघु. २.२।

---

१. शक्ति-भक्ति-व्यक्तिगङ्गायमुनागूढनिर्झराः।
निर्वहन्त्य. सन्त्यत्र स्यात्तदेषा त्रिवेणिका॥ पृ० १

कालिदास ने प्रस्तुत पद्य मे 'श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्' इस उपमा के द्वारा जो कहा है, उसे उसके बिना कथमपि नही कहा जासकता। कोशकारो अथवा व्याकरण शास्त्र आदि के विद्वानो के अनुसार अनुगमन का तात्पर्य पीछे जाना है, यह पीछे जाना सावित्री द्वारा सत्यवान् को यम के पाशसे छुडाने के लिए यम के पीछे जाना भी हो सकता है, जहाँ अवसर पर कुछ मागने की कामना है, किसी सेवक द्वारा स्वामी की यात्रा सामग्री लेकर उस की सुखसुविधा के लिए स्वामी के पीछे जाना भी हो सकता है। एक कृषक हालिक द्वारा हल चलाते किसान साथी के पीछे बीज डालने के लिए पीछे जाना भी हो सकता है। किन्तु 'श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्' मे इन प्रकारो का पीछे जाना नही है, इनसे सर्वथा भिन्न है। यह अनुगमन अनुगन्ता द्वारा अनुगम्यमान की मर्यादा (सीमा) का समग्र रूपसे ध्यान रखते हुए उसका पूरक होते हुए एक निश्चित सीमा मे कर्तव्य पालन की तत्परतारूप है, जिसकी प्रतीति इस विशिष्ट उपमा के माध्यम से होती है, और अभिधा के द्वारा ही होती है। इसीलिए काव्यशास्त्र के आचार्यो ने अलंकारो को भी विचित्रअभिधा कहा है।[1] कवि उनका प्रयोग कुछ विशेष अर्थ के अभिधान के लिए करते है, जिसका अभिधान सामान्य शब्द नही कर पाते। इसीलिए कवियो की अभिधा की सीमा अन्य शास्त्रो मे स्वीकृत अभिधा की सीमा से कुछ भिन्न है।

यही स्थिति काव्यगत लक्षणा की भी है। मीमांसा और न्यायशास्त्र मे लक्षणा व्यापार अभिधा का पूरक है। मीमासको के अनुसार (कुमारिलभट्ट और उनके अनुयायियो के अनुसार) अभिधा द्वारा पदो से पदार्थो की प्रतीति होने पर आकाक्षा योग्यता एवं सन्निधिरूप सहकारिकारणो के रहने पर लक्षणा द्वारा वाक्यार्थ की प्रतीति होती है।[2] न्यायशास्त्र के आचार्यो अथवा प्रभाकर आदि मीमासको के अनुसार पदार्थो का वाक्यार्थ मे अन्वय न हो सकने अथवा वाक्य के तात्पर्यभूत अर्थ

---

१ (क) तत्र वाच्य. प्रसिद्धो यः प्रकारैरुपमादिभिः।
बहुधा व्याकृत' सोन्यै .. .. । ध्वनिकारिका १.३
(ख) अलङ्काराणाञ्चाभिधात्वमुपगत तेषा भङ्गीभणितिभेदरूपत्वात्।
व्यक्ति विवेक पृ० १९

२ (क) कल्पनालाघवादाकाक्षादिलक्षणसहकारिप्रत्यासन्नैश्च समभिव्याहृतपदस्मारितै. पदार्थैः प्रत्यासत्या गम्यमानो वाक्यार्थो लाक्षणिक.।
तत्त्वबिन्दु पृ० १६१
(ख) वाक्यार्थो लक्ष्यमाणो हि सर्वत्रैवेति न. स्थिति'। वही. पृ० १५३

की प्रतीति न हो सकने पर अभिधेयार्थ से सम्बद्ध अन्य अर्थ की प्रतीति होती है, इस सम्बद्ध अर्थ की अवबोधिका शक्ति को ही गुणवृत्ति उपचार भक्ति अथवा लक्षणा कहा जाता है ।[1] अभिधा की सहायिका होने के कारण ही अनेकबार लक्षणा को 'अभिधा की पुच्छभूत' कहा गया है ।[2]

काव्यशास्त्र के आचार्यों ने लक्षणा की पूर्व आचार्यों द्वारा स्वीकृत परिभाषाओं को स्वीकार करते हुए भी उसे अभिधा की सहायिका मात्र नहीं स्वीकार किया है, अपितु उसे भी काव्यचारुत्व के हेतुओं में अन्यतम के रूप में ग्रहण किया है। उदाहरणार्थ हम आचार्य वामन की मान्यता को देख सकते हैं। उन्होंने सादृश्यमूलक लक्षणा को वक्रोक्ति अलंकार के रूप में स्वीकार किया है ।[3] जबकि उद्भट लक्षणा को ही रूपक अलंकार की परिभाषा के रूप में स्वीकार करते हैं ।[4] अग्निपुराणकार श्रीपाद, महिममट्ट एवं शोभाकरमित्र आदि कुछ आचार्य लक्षणा को एक स्वतन्त्र अलंकार के रूप में स्वीकार करते हैं[5] उनके अनुसार जहां सादृश्य के आधार पर एक अर्थ पर अन्य अर्थ का (अथवा पद पर पदान्तर का) आरोप किया जाता है और वह आरोप चारुत्वातिशय का हेतु होता है, तो उसे रूपक अलंकार कहते हैं। जहां उपर्युक्त प्रकार का ही आरोप सादृश्य पर आश्रित न होकर कार्यकारणभाव

---

१. (क) लक्षणा शक्यसम्बन्धस्तात्पर्यानुपपत्तित. । कारिकावली ८२ पृ० ३१९

(ख) वाच्यस्यार्थस्य वाक्यार्थे सम्बन्धानुपपत्तित. ।
तत्सम्बन्धवशप्राप्तस्यान्वयाल्लक्षणोच्यते ।। वाक्यार्थमातृकावृत्ति पृ० ३९९

(ग) यस्य तु शब्दव्यापारावगम्यार्थपर्यालोचनयाऽवगतिस्तस्य लाक्षणिकत्वम् ।
अभिधावृत्तमातृका पृ०५

(घ) श्रुतिमात्रेण यत्रास्य तादात्म्यमवसीयते ।
त मुख्यमर्थं मन्यन्ते गौण यत्नोपपादितम् ।। वाक्यपदीय २.२८०

(ङ) अतस्मिंस्तत्समारोपो भक्तेर्लक्षणमिष्यते ।
अर्थान्तरप्रतीत्यर्थ. प्रकार सोऽपि शस्यते ।। व्यक्तिविवेक १.६० पृ० ११९

२. अत एव साऽभिधापुच्छभूतेत्याहुः ।

३. सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्ति. । का० सू० वृ० ४ ३ ८०

४. श्रुत्या सम्बन्धविरहाद् यत्पदेन पदान्तरम् ।
गुणवृत्तिप्रधानेन युज्यते रूपक तु तत् ।। काव्या. लंकारसारसंग्रह १ ११.

५. लक्षणायाश्चालंकारत्वमुपपादितमेव । व्यक्तिविवेक पृ० ३११

आदि अन्य सम्बन्धो पर आश्रित हो वहाँ लक्षणा अलकार स्वीकार किया जाना चाहिए, और जहाँ आरोप चाहे सादृश्यमूलक हो चाहे सादृश्येतर कार्यकारण भावादिमूलक, यदि वह केवल अभिधाशक्ति की सहायता से अविदित अर्थ की प्रतीति का हेतु होती है, चारुत्वातिशय की हेतु नही, उस स्थिति मे वह लक्षणावृत्तिमात्र कही जाती है। यथा—

अथ मधुवनितानां नेत्रनिर्वेशनीयम्,
मनसिजतरुपुष्पं रागबन्धप्रवालम्।
अकृतकविधिसर्वाङ्गीणमाकल्पजातम्,
विलसितपदमाद्य यौवन स प्रपेदे ॥ (रघु १८.५२)

प्रस्तुत पद्य मे कामदेव पर पुष्प का एव यौवन पर पुष्पमधु एव प्रवाल का सादृश्य मूलक चारुत्वादिशयपूर्ण आरोप किया गया है, अतः यहाँ रूपक अलकार स्वीकार किया जाएगा। जबकि—

मुख विकसितस्मित वशितवक्रिमप्रेक्षितम्,
समुच्छलितविभ्रमा गतिरपास्तसस्था मतिः।
उरो मुकुलितस्तन जघनमसबन्धोद्धुरम्,
बतेन्दुवदना तनौ तरुणिमोद्गमो मोदते ॥

अथवा—

नि श्वासान्धइवादर्श. चन्द्रमा न प्रकाशते।

अथवा—

प्रयाते तु महारण्य चिररात्राय राघवे।
बभूव नगरे मूर्च्छा बलमूर्च्छा जनस्य च ॥

(वा. रा. अयो. ४०.१८)

इत्यादि पद्यो मे लक्षणा अलकार स्वीकार किया जाना चाहिए। इसके विपरीत 'कलिङ्ग. साहसिकः', 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' 'छत्रिणो यान्ति' इत्यादि वाक्यो मे लक्षणा चारुत्वातिशय का हेतु न होने से व्यापारमात्र है[1]

---

१. विशेष विवरण के लिए लेखक द्वारा ही लिखित 'लक्षणालकार' निबन्ध द्रष्टव्य है। सस्कृतरत्नाकर १९६८

व्यञ्जना वृत्ति की स्थापना तो काव्यशास्त्र के आचार्यों द्वारा ही की गयी है, इसका एक मात्र कारण यह है कि मीमासा एव न्याय शास्त्र आदि के आचार्यों ने जिस भाषा की समीक्षा की है, अथवा उनकी विवेचना का जो उद्दिष्ट रहा है, उसमे व्यञ्जना व्यापार को कोई स्थान ही नही है। वैदिक कर्मकाण्ड के सन्दर्भ मे अथवा प्रमाण प्रमेय आदि के पारिभाषिक विवेचन के सन्दर्भ मे यदि व्यञ्जना का समावेश किया जाएगा तो निश्चय ही उन शास्त्रो का उद्देश्य ही समाप्त हो जाएगा। जबकि इसके विपरीत काव्यशास्त्र के आचायो का विवेच्य विषय कवियो की वाणी रही है। कवियो की वाणी मे कवि के उन मनोभावो का अनुसन्धान भी अनिवार्य रहा करता है, जिसके वहन करने की क्षमता सामान्य भाषा में नही हुआ करती। कवि कभी प्रतीको के माध्यम से और कही किसी भी प्रकार के स्थूल या सूक्ष्म सम्बन्ध के आधार पर अपने भावो को सहृदय[1] तक (सामान्य श्रोता तक नही) पहुचाने का प्रयत्न करता है। उसकी भाषा मे यह अपूर्व सामार्थ्य किसी अपूर्व शक्ति के बिना नही आ सकता। कवियो द्वारा भाषा को दी गयी इस अपूर्व शक्ति का अनुसन्धान, उसकी व्याख्या और तर्कपूर्ण युक्तियो से उसकी स्थापना का कार्य काव्यशास्त्र के आचायो को करना पडा है। दण्डी ने अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ काव्यादर्श के प्रारम्भ मे ही—

'इह शिष्टानुशिष्टाना शिष्टानामपि सर्वथा।
वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते' ॥[2]

पद्य मे 'शिष्ट' पद द्वारा व्याकरण सम्मत वाणी का उल्लेख करके 'अनुशिष्ट' पद से इस अपूर्व शक्ति की ओर केवल सकेत मात्र किया था। शिलामेघसेन ने इसी कारिका को—

'इह व्यक्तानुव्यक्ताना व्यक्तानामपि सर्वथा'[3]

के रूप मे परिवर्तित करके अनुव्यक्त पद द्वारा पर्याप्त मात्रा मे स्पष्ट किया था। पर्यायोक्त आदि अलकारो के माध्यम से अग्निपुराणकार दण्डी भामह उद्भट

१—येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयी-भावयोग्यता ते सहृदयाः। ध्वन्यालोक लोचन पृ० ४०

विद्याभवन सस्कृत ग्रन्थमाला ९७, चौखम्बा वाराणसी १९६५, सस्करण।

२—काव्यादर्श १,३ ३—सियबसलकुर १,४

रुद्रट भोज आदि प्राय. सभी काव्यशास्त्रीय आचार्यो ने कवियो द्वारा भाषा को दी गयी इस शक्ति को स्वीकार किया है। आचार्य आनन्दवर्धन अभिनवगुप्त एव मम्मट आदि आचार्यो ने इस शक्ति को निर्भीक होकर न केवल स्वीकार किया, अपितु प्रबल युक्तियो से यह सिद्ध किया कि इस शक्ति को पहचान कर ही कवि के मनोभावो को समझा जा सकता है विशेषत. कोमल भावो को, जिसे रस की सज्ञा प्रदान की जाती है। अभिनवगुप्त ने तो आचार्य भरत के रससूत्र की जो व्याख्या भाषा मे इस (व्यञ्जना) शक्ति को स्वीकार करते हुए की है, उससे उत्तम एव पूर्णतया स्वीकार्य व्याख्या न तो भट्टलोल्लट भट्टशकुक या भट्टनायक आदि दे सके और न उसके बाद के कोई प्राचीन या आधुनिक विद्वान्। इतना ही नही परवर्ती आचार्यो ने अभिनव गु की व्याख्या के बाद कवियो द्वारा दी गयी भाषा की इस शक्ति को पूर्णत. स्वीकार कर लिया। कालान्तर मे यह व्यञ्जना ही कविता की समीक्षा का मानदण्ड बन गयी।

इस व्यञ्जना व्यापार की सत्ता को चुनौती देने का साहस किया केवल महिमभट्ट ने। महिमभट्ट का विरोध भी उसकी सत्ता को स्वीकार करने के सन्दर्भ मे नही था, उन्होने केवल नैयायको की अनुमिति की शैली मे' किन्तु उससे भिन्न काव्यानुमिति के नाम से तर्क की कसौटी पर भी परखने योग्य एक नये सांचे में ढालने का प्रयत्न किया था,[१] किन्तु उसका भी प्राय. सभी परवर्ती आचार्यो ने विरोध किया, यहां तक कि उनके टीकाकार रुय्यक ने भी उनकी मान्यता का खण्डन किया।[२] फलतः काव्यशास्त्र के क्षेत्र मे मीमासक आचार्यो से प्राप्त अभिधा और लक्षणा व्यापारो के अतिरिक्त व्यञ्जना व्यापार भी अन्तत. सर्वसम्मत बन गया।

१—काव्यस्यात्मनि सज्ञिनि रसादिरूपे न कस्यचिद् विमतिः

सज्ञाया सा, केवलमेषापि व्यक्त्ययोगतोऽस्य कुत. ॥

वाच्यस्तदनुमितो वा यत्रार्थोऽर्थान्तर प्रकाशयति।

सम्बन्धतः कुतश्चित् सा काव्यानुमितिरित्युक्ता ॥

व्यक्ति विवेक १,२६,२५

२—द्रष्टव्य व्यक्तिविवेकव्याख्यान १.२५-२६ ।

महिमभट्ट आदि कुछ आचार्यों द्वारा इस व्यापार को स्वीकार करने मे सबसे बडी बाधा भी पद वाक्य अथवा प्रमाण शास्त्र के आचायो द्वारा इसका और कोई सकेत न करना रही है। फलत. काव्यशास्त्र के आचार्यों ने प्राचीन सिद्धातो में ध्वनि का मूल खोजने का प्रयत्न किया और उन्हे व्याकरणशास्त्र के स्फोटवाद मे व्यञ्जना (ध्वनि) सिद्धान्त का मूल दिखाई भी पड गया। व्याकरण शास्त्र के परवर्ती आचार्य नागेशभट्ट ने तो वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा मे स्फोट की व्यंग्यता एव निपातो की द्योतकता के लिए व्यञ्जना व्यापार को वैयाकरणो के मत मे अनिवार्यत. स्वीकरणीय बना दिया है।[1]

जैसा कि अभिधावृत्तमातृका की भूमिका मे स्पष्ट किया जा चुका है कि मीमांसा की परम्परा मे शब्दशक्ति का विवेचन करने वाले आचार्यो की सूची सुदीर्घ है। इस विषय मे स्वतन्त्र ग्रन्थो की रचना करने वाले आचार्यो मे वाक्यार्थ-मातृकावृत्तिकार शालिकनाथ एव तत्त्वबिन्दुकार वाचस्पतिमिश्र प्राचीनतम आचार्यो मे है, इन्होने अपने ग्रन्थो मे क्रमश. अन्विताभिधानवाद एवं अभिहितान्वय-वाद का प्रतिपादन एव समर्थन किया है। पार्थसारथि मिश्र के न्यायरत्नमाला के अन्तर्गत 'वाक्यार्थ निर्णय' को भी स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप मे स्वीकार किया जा सकता है, यद्यपि ग्रन्थकार ने न्यायरत्नमाला के अग के रूप मे ही उमका लेखन किया है। इस ग्रन्थ मे भी अभिहितान्वयवाद का ही विवेचन किया गया है।

शब्दशक्तियो का विवेचन करने वाले जो ग्रन्थ हमे अबतक मिल सके है, उनमे मबसे प्राचीन अभिधावृत्तमातृका है, किन्तु इसमे व्यञ्जना वृत्ति की कोई स्वीकृति नही रही है। काल क्रम से द्वितीय ग्रन्थ मम्मट कृत शब्दव्यापार विचार कहा जाना चाहिए, जिसमे अभिधा लक्षणा एव व्यञ्जना तीनो शक्तियो की चर्चा हुई है, किन्तु इसकी शब्दावली की काव्यप्रकाशगत एतद्विषयक विवेचन की शब्दावली से तुलना करने पर पता चलता है कि सम्भवत' मम्मट ने इसकी स्वतन्त्रग्रन्थ के रूप मे रचना नही की है। बल्कि किसी प्रयोजन से काव्यप्रकाश से ही तद्विषयक विवेचन को सकलित कर कर दिया है। हा अभिधावृत्तमातृका के कुछ उदाहरणो की समीक्षा अवश्य नवीन है, किन्तु केवल इस आधार पर ही उसे स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप मे स्वीकार कर सकना उचित न होगा। एतद्विषयक तृतीय ग्रन्थ अप्पयदीक्षितकृत वृत्तिवार्त्तिक है। इस ग्रन्थ

---

१. अत एव निपातना द्योतकत्वं स्फोटस्य व्यंग्यता च हर्यादिभिरुक्ता।
वैयाकरणानामप्येतत्स्वीकार आवश्यक:। वै. सि. मञ्जूषा

के प्रारम्भ मे दीक्षित ने यद्यपि अभिधा लक्षणा और व्यञ्जना तीनो शक्तियों के विवेचन की प्रतिज्ञा की है,[1] किन्तु यह सयोग की ही बात है कि यह ग्रन्थ अबतक लक्षणा विवेचन पर्यन्त ही उपलब्ध हो सका है। इसके अतिरिक्त चन्द्रकान्त विद्यालकार कृत शब्दमञ्जरी भी इस विषय का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है, जो हमे अबतक उपलब्ध न हो सका है ।[2]

आशाधर प्रथम आचार्य है जिन्होने अभिधा लक्षणा एव व्यञ्जना व्यापार के विवेचन के लिए कोविदानन्द एव त्रिवेणिका दो ग्रन्थ लिखे है और दोनों ही समग्र रूप से उपलब्ध है। इतना ही नही, इन दोनो ग्रन्थो की सबसे मुख्य विशेषता यह है, जो इन्हे अत्यन्त उपादेय सिद्ध करती है, कि ये जितने विद्वतापूर्ण है, उतने ही सुगम भी हैं। इसमे उन सभी समस्याओ पर सुगम शैली मे विचार किया गया है, जो शब्दशक्ति के अध्येताओ के समक्ष उपस्थित होती है। साथ ही इसके अध्ययन के समय गम्भीर चिन्तन मे निरत विद्वानो को भी निराश नही होना पडता। इन ग्रन्थो मे इन्होने यथास्थान न्याय, मीमासा, धर्मशास्त्र निरुक्त व्याकरण एव साहित्यशास्त्र आदि के आचार्यो को उद्धत करते हुए[3]. सिद्धान्तपक्ष का समर्थन किया है। सिद्धान्त पक्ष का समर्थन करने के लिए उन्होने महाभाष्यकार पतञ्जलि, वार्त्तिकार कात्यायन, काव्यप्रकाशकार मम्मट एव अन्य आचार्यों को भी उद्धृत किया है। दोनो ग्रन्थो को आशाधर भट्ट ने अभिधा लक्षणा एव व्यञ्जना प्रकरणो मे विभाजित किया है, तथा त्रिवेणिका मे नैषधीयचरितम् एव किरातार्जुनीम् जैसे महत्वपूर्ण महाकाव्यो को भी उद्धृत किया है। इन्होने अपने एतद्विषयक दोनो ही ग्रन्थो मे विवेच्य विषय को स्पष्ट करने का ही प्रयत्न किया है, पाण्डित्य प्रदर्शन का प्रयास कही प्रगट भी नही होता।

---

१. वृत्तयः काव्यसरणावलकारप्रबन्धभि ।
अभिधा लक्षणा. व्यक्तिरिति तिस्रो निरूपिता. ॥
तत्र क्वचित्क्वचिद् वृद्धै र्विशेषानस्फुटीकृतान् ।
निष्टकयितुमस्माभि क्रियते वृत्तिवार्त्तिकम् ॥ वृत्तिवार्त्तिक पृ० १

२. यह ग्रन्थ आसामी लिपि मे ६५ वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ था।

३. देखिये परिशिष्ट १

आशाधर भट्ट—

सस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास मे हमे आशाधरभट्ट नाम के दो विद्वानो की सूचना मिलती है। इनमे से प्रथम की चर्चा पिटर्सन ने १८८३ मे की थी एव दूसरे का उल्लेख बूह्लर ने १८७१ ई० मे किया। नाम साम्य के कारण ही डा० एस० के० डे ने दोनो को अभिन्न मानने का प्रयास किया है।[1] जबकि आफ्रेट ने उन्हे परस्पर भिन्न स्वीकार करना उचित माना है।[2] यद्यपि नामसाम्य के अतिरिक्त अभिन्न मानने के कोई प्रमाण उपलब्ध नही होते है। बल्कि उपलब्ध सामग्री दोनो के पृथक्-पृथक् अस्तित्व को सूचित करती है।[3] आफ्रेट के अनुसार प्रथम आशाधर व्याघ्रेरवाल वंश के जैन लेखक रहे है। इनके पिता का नाम सल्लक्षण एव पुत्र का नाम छाहड था। इन्होने त्रिषष्ठिस्मृतिशास्त्र मे उसका रचना काल १२३६ ई० स्वय निर्दिष्ट किया है। अतः उनका स्थिति काल तेरहवी शताब्दी का पूर्वार्ध सुनिश्चित है। जबकि कोविदानन्द एव त्रिवेणिका के रचयिता आशाधरभट्ट मल्लिनाथ एव सिद्धान्तकौमुदी का उल्लेख करते है, सिद्धान्तकौमुदीकार भट्टोजिदीक्षित का समय सोलहवी शती का उत्तरार्ध सुनिश्चित है, अतः द्वितीय आशाधरभट्ट का समय सोलहवी शती के बाद ही हो सकता है। इस प्रकार दोनों आशाधरभट्ट को एक मानना कथमपि उचित न होगा।

इनमे से प्रथम आशाधररचित त्रिषष्ठिस्मृतिचन्द्रिकाशास्त्र अष्टाङ्ग-हृदयोद्योत, काव्यालकार टीका एवं ग्रहगणित की सूचना मिलती है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक आशाधर भट्ट द्वितीय हैं। वे कौन थे इनका जन्म कब और कहां हुआ था, इत्यादि के प्रसङ्ग मे प्रमाणो के अभाव मे कुछ भी प्रामाणिकरूप से कह सकना कठिन है। अलकारदीपिका के मङ्गलाचरण पद्यो से हमे केवल इतनी ही सूचना मिल पाती है कि इनके पिता भट्टरामजी तथा इनके गुरू श्रीधरणीधर रहे है।[4] क्योकि सस्कृत वाङ्मय के इतिहास मे धरणी धर

१—Hındu poeties vol. I. P. 99

२—Catalogurs Catalogorum I P 54।

३—(क) पीटसेन रिपोर्ट भाग २ पृ० ८५,
(ख) आफ्रेट कैटलागर्स कैटलागरम भाग १,
(ग) एस० के० डे० हिन्दुपोयटिक्स भाग १ पृ० ९९

४—शिवयोस्तनय नत्वा गुरु च धरणीधरम्।
आशाधरेण कविना रामजीभट्टसूनुना॥ अलंकार दीपिका पृ० १

एवं रामजी भट्ट का कोई विशेष विवरण उपलब्ध नही है, अत. इस सकेत से भी इनके स्थिति काल के निर्णय करने मे कोई सहायता नहीं मिल पाती। इन्होने अपने पिता रामजीभट्ट के नाम के साथ विशेषण के रूप मे पदवाक्यप्रमाण-पारावारीण पद का तथा स्वय के लिए कवि विशेषण का प्रयोग किया है ।[१] इससे कथमपि यह अनुमान किया जा सकता है कि उन्होने व्याकरण न्याय एव मीमासा का अध्ययन अपने पिता से तथा काव्यशास्त्र का अध्ययन गुरुधरणीधर से किया होगा। सभवतः ये गुजरात के रहे होगे, क्योकि इनके ग्रन्थ प्राय उधर ही दृष्टिगत हुए हैं।

आशाधरभट्ट ने जिन ग्रन्थों के उद्धरण दिये हैं, वे प्राय सुप्रसिद्ध एव प्राचीन है, अत उनके आधार पर उनकी तिथि का निधारर्ण करना सम्भव नही है। आफ्रेट के अनुसार इनका उल्लेख जनार्दन पडित ने किया है, किन्तु वे स्वय ऐतिहासिकों मे अविदित हैं, अत उनके उद्धरण मे इनके स्थितिकाल के निर्णय मे कोई सहायता नही मिल पाती, अतः हमे इसके लिए अन्तः साक्ष्य पर ही निर्भर रहना पड़ता है। इनकी रचनाओ मे एक रचना अप्पयदीक्षितकृत कुवलयानन्द पर टीका अलकार दीपिका है। अप्पय दीक्षित (कुवयलानन्दकार) का समय प्रायः निश्चित है। वे सोलवी शताब्दी के उतरार्ध एव सत्रहवी के प्रथम भाग में रहे हैं, यह निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जाता है। आशाधरभट्ट ने सिद्धान्तकौमुदीकार भट्टोजिदीक्षित को उद्धृत किया है। भट्टोजिदीक्षित भी निर्विवाद रूप से सत्रहवी शताब्दी के पूर्वार्ध मे रहे है। आशाधर भट्ट ने 'अत्र वैयाकरणा.—शक्तिरेव शब्दवृत्तिः तस्याश्च प्रसिद्धयप्रसिद्धिभ्या शक्ति-लक्षणा व्यपदेश·" [त्रिवेणिका पृ० २८] इत्यादि शब्दो मे आलोचनार्थ वैयाकरण मत को उद्धृत किया है। वैयाकरणो में कौण्डभट्टकृत वैयाकरण भूषणसार मे शक्ति की उपर्युक्त परिभाषा प्राप्त होती है। इस आधार पर यदि यह कहा जाए कि वे कौण्डभट्ट से परिचित रहे हैं, तो अनुचित न होगा। इस परिभाषा को कौण्डभट्ट ने वाक्यपदीय एवं शब्दकौस्तुभ से ग्रहण किया है। कौण्डभट्ट भट्टोजिदीक्षित के भतीजे थे। अतः इनका समय भट्टोजिदीक्षित से अव्यवहित उत्तरवर्त्ती अर्थात् सत्रहवी शती का मध्यभाग स्वीकार करना उचित होगा। इसके फलस्वरूप आशाधर भट्ट को भी सत्रहवी शती के मध्यभाग से पूर्व नही रखा जा सकता है।

१—इति श्रीपदवाक्यप्रमाणपारावारीण रामजीभट्टात्मज-आशाधरभट्टविरचिताया त्रिवेणिकायाम् .. ..। प्रकरणो की पुष्पिका। पृ० ११, २४, २६।

आशाधरभट्ट की उत्तरवर्ती सीमा के सम्बन्ध मे हमे उनके ग्रन्थो के प्रतिलिपि कारो से कुछ सूचना मिलती है। बेल्वेल्कर एवं के० पी० त्रिवेदी के अनुसार कोविदानन्द की एक प्रति मे शक सवत् १७८३ (अर्थात् १८६१ ई०) मे उस प्रतिलिपि के तैयार किए जाने का सकेत मिलता है।[1] भाण्डारकर द्वारा प्रस्तुत पाण्डुलिपि सूची के अनुसार उन्हे शक सवत् १७७५ (१८५३ ई०) मे प्रतिलिपि की गयी आशाधर-भट्टकृत अलकार दीपिका (कुवलयानन्दटीका) की एक प्रति उपलब्ध हुई है।[2] इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि उन्नीसवी शताब्दी के मध्यभाग तक आशाधर भट्ट की पर्याप्त प्रतिष्ठा हो चुकी थी। किसी ग्रन्थकार की प्रसिद्धि के लिए कम से कम एक शताब्दी का समय आवश्यक है, इस आधार पर यह कहना अनुचित न होगा कि आशाधर भट्ट की उत्तर सीमा अठारहवी शताब्दी के मध्यभाग के बाद रखना उचित न होगा।

यह चर्चा पहले (पृ० ७ मे) की जा चुकी है नागेश प्रथम वैयाकरण है, जिन्होने व्यञ्जना को स्वतन्त्र शक्ति के रूप मे स्वीकार किया है। उनसे पूर्ववर्ती आचार्य इसे गुणवृत्ति, दूसरे शब्दो मे अभिधा के दीर्घव्यापार, मे ही समाहित मानते रहे है, नागेश की यह भी मान्यता रही है कि इस शक्ति को भर्तृहरि द्वारा स्वीकृति स्फोट के अन्तर्गत व्याख्यात किया जा सकता है, अत. व्यजना की स्वीकृति प्राचीन आचार्यो की मान्यता के विरुद्ध भी नही है। आशाधरभट्ट के ग्रन्थो से यह भी पता चलता है कि व्यञ्जना शक्ति को भी स्वीकार करने वाले किसी वैयाकरण का पता उन्हे न था। तभी वे कहते है कि वैयाकरणो के अनुसार शब्द का व्यापार केवल शक्ति अर्थात् अभिधा है। शक्ति के प्रसिद्धि और अप्रमिद्धि भेद से दो प्रकार है, प्रसिद्धि को ही शक्ति एवं अप्रसिद्धि को लक्षणा कहते है, व्यजना का अन्तर्भाव भी दीर्घव्यापार के के कारण उसमे ही हो जाता है।[3] आशाधर भट्ट के इस उद्धरण से यह सुनिश्चित

---

१. (क) Systems of skt. Grammer P. 48,
(ख) Introduction to वैयाकरण भूषण सार P. 20।

२ Bhandarkar's list of skt. Mss. Part I Bombay, 1893, P 68।

३. अत्र वैयाकरणा।—शक्तिरेव शब्दवृत्ति., तस्याश्च प्रसिद्धचप्रसिद्धिभ्यां शक्तिलक्षणा व्यापदेश.। व्यञ्जना तु तत्रैवान्तर्भवति दीर्घव्यापारादिति। त्रिवेणिका पृ० २७, २८।

हो जाता है कि वे व्यञ्जना को शब्दशक्ति स्वीकार करने वाले वैयाकरण नागेश से सर्वथा अपरिचित थे।

नागेश का समय सत्रहवी शती का अन्तिम एव अठारहवी शती का प्रथम भाग माना जाता है।[1] उन्हे एव उनकी रचनाओ को उनके जीवनकाल मे ही पूर्ण समादर प्राप्त हो चुका था। उनके कारण राजदरबारो मे उन्हे सम्मानित किया गया था। इतिहासकारो के अनुसार जयपुर के महाराजा सवाई जयसिंह ने १७१४ मे अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर उन्हे आमन्त्रित किया था, जिसे नागेश ने अस्वीकार कर दिया था। इसे देखते हुए यह स्वीकार करना सम्भव नही है कि आशाधर भट्ट उनसे परवर्ती अथवा समकालीन होते हुए उनसे अपरिचित रहते। अथवा अपने इस लघु ग्रन्थ मे पैतालिस बार से अधिक लगभग तीस ग्रन्थकारो का उल्लेख करके भी नागेश का उल्लेख न करते। अत यह मानना ही उचित होगा कि वे नागेश भट्ट से पूर्व कालीन रहे है, अथवा यदि समकालीन भी थे तो अपेक्षाकृत पूर्व रहे हैं। इन समग्र तथ्यो ये आधार पर यह निष्कर्ष निकालना अनुचित न होगा कि आशाधर भट्ट सत्रहवी शताब्दी के उत्तरार्ध मे रहे हैं।

आशाधर भट्ट की कृतिया

कोविदानन्द

कोविदानन्द शब्दशक्ति विषयक महत्त्व पूर्ण लघु ग्रन्थ है। इसमे ग्रन्थकार ने प्राचीन आचार्यो की मान्यता के अनुसार लक्षण और उदाहरणो के साथ शब्दव्यापार विषय पर विचार किया है। यह ग्रन्थ मूलतः कारिकाओ मे है। ग्रन्थकार ने स्वय इस पर कादम्बिनी नामक सस्कृत टीका भी लिखी है। आशाधरभट्ट की दृष्टि से यह एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसीलिए उन्होने न केवल त्रिवेणिका मे अनेक बार इसका उल्लेख किया है, अपितु त्रिवेणिका के मगल श्लोक मे स्वय को गौरव के साथ कोविदानन्द का रचयिता भी कहा है। इस ग्रन्थ का प्रथम बार मुद्रण उज्जैन से एव दूसरी बार सरस्वती सुषमा मे सवत् २०१८ वि० मे हुआ है। इसके अतिरिक्त यह ग्रन्थ इस सस्करण के साथ वृत्तिसमुच्चय मे भी लेखक द्वारा व्याख्यात होकर प्रस्तुत हुआ है।

१—System of skt. Grammer P. 49.

त्रिवेणिका

त्रिवेणिका आशाधरभट्टकृत शब्दशक्ति विषयक द्वितीय ग्रन्थ है। जैसी कि ग्रन्थकार की प्रतिज्ञा है एव त्रिवेणिका नाम करण का कारण भी, इसमे अभिधा लक्षणा एव व्यजना इन तीनो शब्द शक्तियो का प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत हुआ है।[१] जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि आशाधर भट्ट के ये दो ऐसे स्वतन्त्र पूर्ण ग्रन्थ है जिनमे अभिधा लक्षणा एव व्यजना तीनो शक्तियो का प्रामाणिक सोदाहरण विवेचन किया गया है। इसका प्रथम बार प्रकाशन प्रिस आफ वेल्स सस्कृत सीरीज १४ मे बनारस से सन् १९२५ ई० मे हो चुका है।

अलङ्कार दीपिका

आशाधर भट्ट की तृतीय कृति अलकारदीपिका है। यह कृति स्वतन्त्र ग्रन्थ न होकर अप्पयदीक्षितकृत कुवलयानन्द की टीका है। इसमे केवल कारिकाओ की व्याख्या की गयी है, कुवलयानन्द की वृत्ति एव वृत्ति मे दिये गये उदाहरणो का विश्लेषण इस टीका मे नही हुआ है। कुवलयानन्द पर यह सुविदित टीका है, और अनेक बार इसका मुद्रण हो चुका है। जर्मन मे इसका अनुवाद भी र्बलिन से १९०७ में प्रकाशित हो चुका है, ऐसा पता चलता है।

अद्वैत विवेक

जैसा कि नाम से ही विदित होता है, यह ग्रन्थ अद्वैत वेदान्त का होना चाहिए। यह ग्रन्थ अब तक मुद्रित न हो सका है। कुन्हन राजा द्वारा सम्पादित न्यू कैटलागर्स कैटलागरम के अनुसार इस ग्रन्थ की पाच पाण्डुलिपियो की सूचना मिलती है जो निम्नलिखित है:—

१ बडोदा ११८०६, नासिक II 197
2. BBRAS 143 बम्बई 1879-82 P 5
3. BORI 204 1879-80
4. BORI D IX i 19. D. P. 148 P. 12

प्रभापटल

आशाधर भट्ट ने त्रिवेणिका मे प्रभःपटल से निम्नलिखित दो पद्यो को उद्धृत किया है—

---

१ शक्तिभक्ति व्यक्ति गगायमुना गूढ निर्झरा।
निहबन्त्यः सन्त्यत्र स्यात्तदेषा त्रिवेणिका। त्रिवेणिका पृ० १।

२. त्रिवेणिका पृ० २८

यदिह लिखतामव्युत्पत्त्या पतेल्लघु दूषणम्

निपुणधिषणैरुज्झित्वा तत्क्वनिर्मम सेव्यताम् ।

सरसविमले वातक्षिप्तं निवार्य तु शैवलम्,

सलिलममृतप्राय प्राय पिबन्ति पिपासवः ॥

यदि मम सरस्वत्या कश्चित्कथचन दूषणम्,

प्रलपति, तत प्रौढप्रज्ञै. स कि कविभि. सम ।

रघुपतिकुटुम्बिन्या सत्यामवद्यमुदाहरन्

हतक रजकः साम्य लेभे स कि.सह राजभि ॥[१]

इन दोनो पद्यो के उद्धरण के अनन्तर आशाधरभट्ट ने स्वय स्वीकार किया है कि जिस प्रकार कालिदास ने रघुवश गत कुछ पद्यो अथवा पद्याशो को अपनी दूसरी कृति कुमार सम्भव मे निबद्ध कर दिया है, मैं भी उसी भाँति प्रभापटल के उपर्युक्त हारिणी छन्द मे निबद्ध दो पद्यो को त्रिवेणिका के अन्त मे निर्बद्ध कर रहा हू ।[२] इस आधार पर यह स्वीकार करना अनुचित न होगा कि यह ग्रन्थ भी आशाधर भट्ट की अन्यतम कृति है । इस ग्रन्थ के सम्बन्ध मे हमे अब तक कोई विशेष जानकारी न मिल सकी है, किन्तु बटुकनाथ शास्त्री के अनुसार यह ग्रन्थ सम्भवतः तन्त्र का होना चाहिए ।[३]

---

१. त्रिवेणिका पृ० २६ ।

२. प्रभापटले निबद्धमिद हारिणीद्वय तापापनोदाय त्रिवेणिकाप्रान्ते विन्यस्तम् । यथा रघुवशस्था श्लोका स्वकृतत्वात्कुमारसम्भवे विन्यस्ताः । त्रिवेणिका पृ० २६ ।

३. Introduction on Trivenika P. 11.

कोविदानन्दः

(कादम्बिनी-दीपिका-संवलितः)

आशाधरभट्ट विरचितः कोविदानन्दः

अभिधावृत्तिनिरूपणम्

त्रिनयनलसत्पञ्चास्यश्रीः षडाननन्दनः ।
सततमहिमा सप्तर्ष्याद्यैः कृतस्तुतितोषितः ॥
जयति जगतां व्याकुर्वाणोऽजयाकृतिनामनी ।
पुनरपिदधत् कण्ठेकालः स कालकलोज्झितः ॥१॥

श्रीगणेशाय नमः । श्रीहरिकृष्णाय नमः ।

प्रणम्य शङ्कर साम्बं कोविदानन्दनामकम् ।
ग्रन्थ व्याख्यामि सङ्क्षेपात् स्वकृत बोधसिद्धये ॥

अथाभिधानिरूपणम्

अथात्र शब्दव्यापारसशयनिवृत्तिकामैः शिष्यै प्रेरित आशाधरभट्टनामा कवि सङ्क्षिप्त युक्तियुक्त कोविदानन्दाख्यं ग्रन्थ कुर्वन् शिवोत्कर्षरूप मङ्गलमाचरति—त्रिनयनेति । त्रिभिस्त्रिभिर्नयनैर्लसन् त्रिनयनलसत्, 'तद्धित०' [२-१ ५१] इत्यादिना द्विगुगर्भस्तत्पुरुषः । त्रिशब्दस्य वृत्तिविषये वीप्सार्थत्वम् । अजया = मायया जगतामाकृतिनामनी व्याकुर्वाणः प्रकटीकुर्वाणः, पुनश्च अपिदधत् सहरन्नित्यर्थः । कण्ठेकाल = शिवः 'हलदन्तात् सप्तम्याः सञ्ज्ञायाम्' [६-३-९] इत्यलुक् । जयति = सर्वोत्कर्षेण वर्तत इति वस्तुनिर्देशात्मक मङ्गलमेतत् । त प्रणतोऽस्मि, स मे प्रसीदत्विति नमस्काराशीर्वादावपि व्यज्येते । शेष सुगमम् ॥१॥

पचानन की शोभा से युक्त षडानन कार्तिकेय को आनन्दित करने वाले सप्तर्षि आदि के द्वारा जिनकी स्तुति की जा रही है, वे निरन्तर महिमाशाली तीन नयनो से युक्त भगवान शकर, जो अपनी अज अर्थात् अनादि माया से विश्व के नाम और रूप को प्रकट करते है एवं पुनः उसे समाहित कर लेते है, वे कालबन्धनमुक्त नीलकण्ठ सर्वजयी हो ॥१॥

नोटः—प्रस्तुत दो पद्यो मे ग्रन्थकार ने त्रिनयन शब्द द्वारा शब्द मे विद्यमान अभिधा, लक्षणा एव व्यजना नामक तीन शक्तियो की ओर सकेत किया है। साथ ही अजया शब्द द्वारा शब्द की नित्यता, 'आकृति नाम्नी व्याकुर्वाणः' द्वारा शब्द ब्रह्म से ही नाम रूपात्मक जगत् की उत्पत्ति एव पुनः अपिदधत्' द्वारा शब्द ब्रह्म मे ही उस नाम रूपात्मक जगत का तिरोधान होता है, ऐसा सकेत किया है।

प्राचां वाचां विचारेण शब्दव्यापारनिर्णयम्।
करोमि कोविदानन्दं लक्ष्यलक्षणलक्षितम् ॥२॥

प्राचामिति। प्राचाम्=वृत्तिवार्त्तिककारादीनाम्। लक्ष्यलक्षणलक्षितम्, लक्ष्याणि=उदाहरणानि, लक्षणानि=स्वरूपकथनानि, तैर्लक्षित सयुक्त-मित्यथः ॥२॥

मै आशाधरभट्ट वृत्तिवार्तिककार अप्पयदीक्षित आदि आचार्यों के शब्दव्यापारविषयक विचारो को हृदयगम करते हुए लक्ष्य और लक्षण से युक्त इस कोविदानन्द ग्रथ का निर्माण कर रहा हूँ ॥२॥

प्रमाणत्वेन शब्दानां करणत्वं शरादिवत्।
तेन व्यापारयुक्तत्वं नियतं स्वार्थसाधने ॥३॥

प्रमाणत्वेनेति। शब्दाना प्रमाणत्वेन चक्षुरादिवद् ज्ञानसाधनत्वेन, यथार्थज्ञान प्रमा तस्याः करण प्रमाणमिति लक्षणात्। करणत्व व्यापारवद-साधारणकारणत्वम्। अस्तीति शेषः। तेन स्वार्थसाधने भिदादिपु शरादीना-मिव व्यापारयुक्तत्व नियतमेव। अन्यथा शाब्दबोधासभव इति भावः। द्रव्यादिसाधारण निर्व्यापारसाधारणञ्च हेतुत्वम्। करणत्व तु क्रियामात्रविषय व्यापारनियत च ॥३॥

जिस प्रकार ज्ञान के साधनभूत चक्षु आदि प्रमा के साधन भूत होने से प्रमाण है, उसी प्रकार शब्द भी प्रमा के साधन होने से प्रमाण है। ये शब्द प्रमाण होने से प्रमा के करण है। जिस प्रकार बाण आदि, जो शत्रुनाश क्रिया के प्रति करण होते है, सदा व्यापार युक्त होते है [व्यापारवद् असाधारण कारण करणम्। तर्क सग्रह] उसी प्रकार शब्द भी निज अर्थ को प्रकट करने के कारण अवश्य ही व्यापार युक्त है, यह मानना होगा ॥३॥

शास्त्रादेर्ज्ञातसंकेता लक्ष्यलक्षाः शरा इव ।
सद्योऽर्थकारिणः शब्दास्तेन तस्यापि हेतुता ॥४॥

शास्त्रादेरिति । लक्ष्य लक्षयन्तीति लक्ष्यलक्षाः सम्मुखीना इत्यर्थः । सद्योऽर्थकारिणो बोधनकारिणो भेदनकारिणश्च । तेन तस्यापि सकेतज्ञानस्यापि शाब्दबोधे शरसम्मुखीकरणस्य लक्ष्यभेद इव हेतुताऽस्ति । अपिशब्दाद् व्यापारस्य ॥४॥

जिस प्रकार बाण अपने लक्ष्य पर ही गिरते है इसी प्रकार शास्त्र आदि से सकेतो से युक्त होकर शब्द भी तत्काल अर्थ का बोध कराते है । अतः शाब्द बोध के प्रति शब्दो को हेतु स्वीकार किया जाता है ॥४॥

व्यापारादतिरिक्तोऽयं संकेतो वाच्यगोचरः ।
योग्यताजनको बाणे लक्ष्यसम्मुखता यथा ॥५॥

व्यापारादिति । वाच्यगोचरः शक्यार्थविषयः शब्दनिष्ठ इति शेषः । अतिरिक्तो भिन्न एवाभेदे मानाभावादिति भावः योग्यताजनकः सहकारिकारणमित्यर्थः ॥५॥

जिस प्रकार लक्ष्यो का सम्मुख होना बाणो मे सकेत की योग्यता उत्पन्न करता है, अर्थात् लक्ष्य बाणो के सम्मुख होने पर ही बाणो द्वारा भेदन के योग्य होते है, और वह योग्यता व्यापार से भिन्न होती है, उसी प्रकार वाच्य अर्थों मे विद्यमान सकेत वाचक शब्दो द्वारा वाच्य अर्थ के बोधन की योग्यता उत्पन्न करता है, शब्द मे विद्यमान ये सकेत शब्द मे विद्यमान व्यापार से भिन्न है ॥५॥

ज्ञातस्यैवोपयोगित्वमर्थे तस्यान्यथा तु न ।
लक्ष्येऽवधारितस्यैव सम्मुखत्वस्य भेदने ॥६॥

ज्ञातस्यैवेति । अर्थे = अर्थबोधनेऽवधारितस्य निश्चितस्य बाणनिष्ठस्येति शेषः । लक्ष्ये लक्ष्यविषये ॥६॥

जिस प्रकार सम्मुख मे स्थित लक्ष्यों के भेदन मे ही बाण समर्थ होते है, उसी प्रकार ज्ञात शब्द और अर्थ ही अर्थ बोधन मे समर्थ होते है, अज्ञात नही ॥६॥

संकेतमेव शब्दस्य व्यापारं तार्किका विदुः ।
अज्ञातस्योपयोगित्वं[1] न कथं बाणवेगवत् ॥७॥

सकेतमेवेति । ईश्वरेच्छाविशेषः संकेतः, स एव शब्दव्यापार इति तार्किकाः । तन्मते दूषणमाह—व्यापारस्य ज्ञातस्यैवोपयोगित्वमिति नियमो नास्ति, प्रत्यक्षेणोपलम्भादिति भावः ॥७॥

नैयायिक लोग शब्द मे विद्यमान ईश्वरेच्छाविशेष सकेत को ही शब्द व्यापार मानते है । किन्तु यह उचित नही है । क्योकि हम प्रत्यक्ष देखते है कि ज्ञात पदार्थ का ही उपयोग होता है, अज्ञात का नही । ज्ञात बाण वेग ही लक्ष्य का भेदन करता है, अज्ञात नही । इसी प्रकार ईश्वर की इच्छाविशेष, ईश्वर भिन्न द्वारा अज्ञात है, अतः अर्थ बोध मे उसका उपयोग नही हो सकता । [शक्तिश्च पदेन सह पदार्थस्य सम्बन्धः । सा चास्मात्पदादयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरेच्छारूपा । न्याय सिद्धान्त मुक्तावली० पृ० २१०] ॥७॥

एकेनानेकसाध्योऽर्थो लाघवाद्यदि साध्यते ।
स्त्रीपुंसयोरन्यतरल्लाघवाच्छिशुकृन्न किम् ॥८॥

संकेतव्यापारयोरभेदाङ्गीकारे लाघवम्, तच्च गुण इत्याशङ्क्य सफलं गौरवमपि गुण एव, ततः स्वीकर्तव्यमित्याह—एकेनेति । अन्यतरदेक शिशुकृत् शिशुजनक किं न स्यात् ? तोक न जनयेत् । कथमिति पाठः साधीयान्, यतो विवाहादिगौरवपरिहारादिति भावः । ८॥

नैयायिको की ओर से यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि सकेत और व्यापार इन दोनो को अभिन्न क्यो न माना जाए । अथवा इन दोनो मे एक को ही अर्थ बोध का हेतु क्यो न स्वीकार किया जाए, ऐसा मानने पर लाघव होगा और लाघव महान् गुण है । इस आशका के उत्तर मे ग्रथकार का कहना है कि दो वस्तुओ द्वारा साध्य पदार्थ की उत्पत्ति एक के द्वारा संभव नही है । अन्यथा स्त्री और पुरुष द्वारा मिलकर उत्पाद्य शिशु की उत्पत्ति भी अन्यतर से स्वीकार करने मे आपत्ति न होनी चाहिए । क्योकि उस स्थिति मे विवाह आदि गौरव की अनायास निवृत्ति हो सकती है । तात्पर्य यह है कि जिस

---

१ 'अज्ञातोऽप्युपयोगी तम्' इति क ।

प्रकार स्त्री और पुरुष द्वारा मिलकर शिशु की उत्पत्ति होती है, वह केवल एक के द्वारा नही हो सकती, उसी प्रकार सकेत और व्यापार दो की सहायता से होने वाला अर्थबोध केवल एक के द्वारा नही हो सकता ॥८॥

अयमर्थ इतश्शब्दाद्वेद्य इच्छेदृशी तु या ।
प्रवर्तकोपदिष्टा सा संकेत इति भण्यते ॥९॥

सकेतलक्षणमाह—अयमिति । प्रवर्तकोपदिष्टेति प्रवर्तकग्रहणादाधुनिकेषु नाव्याप्ति । उपदिष्टा इच्छा सकेतः, अथवा इच्छापूर्वक उपदेशः संकेत इति पक्षद्वय सिद्धयति ॥९॥

'इस शब्द के द्वारा इस अर्थ का बोध होता है' प्रवर्तक द्वारा उपदिष्ट इस प्रकार की इच्छा को संकेत कहते है ॥९॥

स ईश्वरकृतः साधौ शब्दे शास्त्रं तु शास्ति तम् ।
असाधौ व्यवहारादेः संवेद्यः स सुधीकृतः ॥१०॥

सकेतद्वैविध्यमाह—स इति । साधौ=संस्कृते शब्दे ईश्वरकृतः, असाधौ=प्राकृते सुधीकृतः, आधुनिकविद्वत्कृत इत्यर्थः ॥१०॥

यह संकेत दो प्रकार का है ईश्वरकृत और सुधीकृत । साधु शब्दो [यौगिक शब्दो] मे ईश्वरकृत सकेत रहता है । शास्त्र द्वारा उसका बोध कराया जाता है । असाधु अर्थात् रूढि शब्दो मे सुधीकृत [उत्तम वृद्ध अर्थात् विद्वानो द्वारा निर्दिष्ट] संकेत रहता है तथा व्यवहार आदि द्वारा उसका बोध होता है ॥१०॥

लाघवादेकमात्रेण बोधोऽर्थस्य मतस्तु यैः ।
तन्मते दोष एव स्याल्लाघवं विफलं यतः ॥११॥

लाघवादिति । एकमात्रेण सकेतमात्रेण विफलमर्थासाधकमित्यर्थः ॥११॥

नैयायिक परम्परा आदि के आचार्य जो लाघव के कारण सकेत और व्यापार को अभिन्न मानते है और केवल एक के द्वारा ही अर्थ बोध स्वीकार करते है, उनका मत दोष रहित नही है । क्योकि व्यापार के बिना सकेत अर्थ बोधन मे सफल नही हो सकता । फलतः इस प्रसंग मे लाघव निरर्थक है ॥११॥

संकेतग्रहणे हेतून् शृणूदाहरणैः सह।
प्रायो व्याकरणं कोशो निरुक्तं मुनिवागपि ॥१२॥
व्याख्यानं वाक्यशेषश्च प्रसिद्धार्थस्य सन्निधिः।
उपमानप्रमाणं च व्यवहारश्च तद्विदाम् ॥१३॥

ज्ञातस्यैव सकेतस्योपयोग इत्युक्तं तत्रोपायानाह—सकेतेति । सकेत-ग्रहणे सकेतज्ञाने, प्राय इत्यनेन मुख्यत्वं सूचितम् । निरुक्त यास्काचार्यकृतं शास्त्रम्, मुनिवाक्—व्यासादिवचनम्, गोबलीवर्दन्यायेन पृथङ् निर्देशः ॥१२॥

व्याख्यानमिति । व्याख्यानम्=पर्यायादि, वाक्यशेष.=पौर्वापर्यम्, यदाहुः—'पौर्वापर्यपरामृष्टः शब्दोऽन्या कुरुते मतिम्' इति ॥१३॥

अग्रिम प्रकरण मे सकेत ग्रहण के जो हेतु है उनका उदाहरण सहित विवेचन किया जा रहा है। सामान्यतः व्याकरण, कोष, निरुक्त [निर्वचन] आप्त-उपदेश, व्याख्यान अर्थात् पर्याय आदि का निर्देश, वाक्यशेष अर्थात् प्रकरणबोध, प्रसिद्ध अर्थ के साथ सन्निधि, उपमान-प्रमाण और व्यवहार सकेत ग्रहण के हेतु होते है ॥१२-१३॥

अमिश्रिता मिश्रिताश्च संकेतग्रहहेतवः।
दर्शिताः साधुशब्दानामसाधूनां च केचन ॥१४॥

अमिश्रिता[1] इति । असाधूना प्राकृतादीना केचन व्यवहारादयः ॥१४॥

उपर्युक्त सकेतग्रह के हेतु कभी अमिश्रित रूप से अर्थात् पृथक् पृथक् और कभी मिश्रित रूप से सकेत का ग्रहण कराते है। अग्रिम पक्तियो मे कुछ साधु अर्थात् यौगिक और कुछ असाधु अर्थात् रूढि शब्दो मे सकेतग्रहण के उदाहरण उपस्थित किए जा रहे है ॥१४॥

पार्वत्यम्बा तथा चोमा तथा दिक्करवासिनी।
साम्बः सोमो भवो मुञ्जकेशः शूली यथाक्रमम् ॥१५॥

---

१. अमिश्रितेति पाठो मातृकायाम् ।

एषामुदाहरणान्याह—पार्वतीति । पार्वतीशब्देऽपत्यार्थप्रत्ययविधायक व्याकरणम् । अम्बाशब्दस्य रूढत्वात् कोश. । उमाशब्दे उशब्दस्य सम्बोधनार्थ-कस्य माशब्दस्य निषेधार्थस्य च सयोगे व्युत्पत्त्यभावेऽपि 'अक्षरसाम्यान्निवचनं ब्रूयात्' इति निरुक्तवचनम् । तथा च कुमारसम्भवे—

'उमेति मात्रा तपसो निषिद्धा पश्चादुमाख्या सुमुखी जगाम' [१,२६]

मेनकावाक्यगतोकारमकाराणा[1]मक्षराणा देवीनामगतानां तेषामभिन्न-रूपत्वादक्षरसाम्यहेतुकोऽय सकेतः । तद्बोधकश्च निरुक्तवचनम् । एवम्—

स तौ कुशलवोन्मृष्टगर्भक्लेदौ तदाख्यया ।
कविः कुशलवावेव चकार किल नामतः ॥

इत्यादिष्वपि स्वयमूह्यम् ।

दिक्करवासिनीति । अत्र शम्भुवाचकदिक्करशब्दः कोशादिष्वदृष्टचर इति ।

दिक्करस्तरुणः प्रोक्तस्तथा शम्भुश्च दिक्करः ।
तस्मिन् यदूषिता देवी तस्माद् दिक्करवासिनी ॥ [अ० ८२]

इति कालिकापुराणे मुनिवाग् व्यासवचनम् । एव विखरशब्दस्य बुद्धि-वाचकत्वे श्मशानशब्दस्य सुषुम्णावाचकत्वे च मुनिवाक् संकेतग्राहिकेति बोध्यम् । अन्यान्युदाहरणानि स्वयमूह्यानि ।

अम्बया सहितः शिवः कृष्णपुत्रो वा व्याख्यानान्निश्चीयते । सोमशब्दस्य सोमयाजी ब्राह्मणोऽयमित्यादौ भक्तिमार्गपौर्वापर्ये सोमशब्दः शिववाचकः, कर्ममार्गपौर्वापर्ये तु यज्ञविशेषवाचक इति । 'भवो भवतु भव्याय' [मु० म० १] इत्यादौ 'भव शर्वो रुद्रः' इत्यादौ च भवशब्द. शब्दान्तरसान्निध्याच्छिववाचको न तु संसारवाचक इति । मुञ्जकेश इति । मुञ्जा इव केशा यस्येति व्युत्पत्त्यो-पमानप्रमाणेन पिशङ्गकेशत्वेन जटाधरत्व निश्चीयते ।

शूलीति । अन्येषा शूलधरत्वेऽपि शूलिशब्देन शिव एव व्यवह्रियते । तेन शूली सेव्य इत्यत्र वृक्षविशेषः शूलरोगी शूलायुधपुरुषो वा न प्रतीयते ॥१५॥

---

१. मेनकावाक्यगत उकारमकाराणाम्—मा० पाठः ।

पार्वती पद्य मे उमा अर्थ का बोध कराने वाली शक्ति का बोध व्याकरण से होता है, क्योकि व्याकरण के अनुसार यह पद पर्वत शब्द से अपत्य अथ मे अण् एवं स्त्री अर्थ मे 'ङीप्' प्रत्यय करके निष्पन्न होता है। 'अम्बा' शब्द मे सकेत ग्रहण कोष के द्वारा होता है, क्योकि यह पार्वती अर्थ मे रूढि है। इसका बोध कोषकार कराते है। उमा शब्द मे सकेत का ग्रहण निरुक्त अर्थात् निर्वचन से होता है। क्योकि निर्वचन के अनुसार 'उ' शब्द सबोधनार्थक है, और 'म' शब्द निषेधात्मक। क्योकि मेनका ने सबोधन पूर्वक उसे तप करने से मना किया था, अतः उमा उसका नाम पड़ा, जैसा कि कालिदास के वचन मे विदित होता है। 'उमेति मात्रा तपसो निषिद्धा पश्चादुमाख्या सुमुखी जगाम' [कुमार सम्भव—१, १७,] निरुक्तकार ने भी कहा है 'अक्षर साम्यात् निर्ब्रूयान्[1] ' [निरुक्त १.१.] दिक्करवासिनी शब्द मे सकेत का ग्रहण न तो व्याकरण से होता है, न कोष से और न निर्वचन से। इस शब्द का अर्थ-बोध हमे कालिका पुराण मे उपलब्ध व्यास के वचन से होता है, और पता चलता है कि यह पद देवी का बोधक है।

"दिक्करस्तरुणः प्रोक्तस्तथा शम्भुश्च दिक्करः।
तस्मिन् यदूषिता देवी तस्माद् दिक्करवासिनी॥"

[कालिका पु० अ० ४२]

साम्ब पद मे सकेत का ग्रहण व्याख्यान के द्वारा होता है और विदित होता है कि यह पद शिव और कृष्ण के पुत्र का बोधक है। सोम शब्द मे सकेत ग्रहण वाक्यशेष अर्थात् प्रकरण के द्वारा होता है। उदाहरणार्थ 'सोम-याजी ब्राह्मणः' इत्यादि वाक्यो मे भक्ति मार्ग के प्रसग मे सोम शब्द शिव का वाचक होगा और कर्म मार्ग के प्रकरण मे यज्ञविशेष का वाचक। 'भवो भवतु भव्याय' इत्यादि वाक्यो मे भव शब्द शब्दान्तर के सान्निध्य से शिव का वाचक है, ससार का वाचक नही। 'मुञ्जकेश' शब्द मे सकेत का ग्रहण 'मुञ्ज इव केशाः यस्य' इस व्युत्पत्ति से उपमान प्रमाण की सहायता से होता है।

---

१. 'निर्वचनम् ब्रूयात्' क।

इसी प्रकार 'शूली' शब्द मे सकेत ग्रहण व्यवहार के द्वारा होता है ॥१५॥

बहुष्वर्थेषु संकेतो हर्यादेरस्ति यद्यपि ।
तथाप्येकत्र भजते व्यापारस्य सहायताम् ॥१६॥

बहुष्विति । एकत्रेति । युगपद् बहुबोधासम्भवादिति भावः ॥१६॥

यद्यपि हरि आदि शब्दो का अनेक अर्थों मे सकेत है तथापि [संयोगादि से नियत्रित होकर] एक अर्थ मे ही अर्थात् एक अर्थ की प्रतीति के लिए ही व्यापार की सहायता करता है। क्योकि एक साथ अनेक अर्थों की प्रतीति संभव नही है ॥१६॥

सकृत्प्रयुक्तः शब्दोऽसौ सकृदेकार्थसाधकः ।
बाणवल्लक्ष्यभेदे तु प्रयोगं पुनरर्हति ॥१७॥

अत्र हेतुमाह—सकृदिति । अर्थस्य साधको बोधकः, बाणपक्षे विदारणादिकारकः, लक्ष्यभेदे लक्ष्यान्तरेऽर्थान्तरे च साध्य इति शेषः ॥१७॥

एक बार प्रयुक्त शब्द एक काल मे एक अर्थ को ही प्रगट कराता है। लक्ष्य भेद की स्थिति मे अर्थात् अन्य अर्थ की प्रतीति मे बाण के समान उसका पुनः प्रयोग किया जा सकता है ॥१७॥

एकोऽर्थः प्रकृतश्लेषे विकल्पादपरेऽपि च ।
अन्योऽर्थ उभयश्लेषे व्यापारबलतः क्वचित् ॥१८॥

श्लेषालङ्कारे बह्वर्थप्रसिद्धिं निराकरोति—एक इति । अपरेऽप्रकृतश्लेषेऽपि एकोऽर्थो न त्वनेक इत्यर्थः । तत्र हेतुर्विकल्पादिति । उभयश्लेषे त्वन्योऽर्थः क्वचिद् ग्रन्थे व्यापारबलतः शक्तिबलादेव स्वीकृतः । व्यञ्जनाबलादित्यन्ये ॥१८॥

प्रकृत श्लेष मे ही वह एक अर्थ ही प्रकट कराता है। अप्रकृत श्लेष मे भी वह हेतु विशेष के कारण अन्य अर्थ का बोध करा पाता है। [ऐसी स्थिति

मे श्लेष हेतु पदो के कारण वाचक शब्द की पुनः कल्पना की जाती है।]
उभय श्लेष मे दो अर्थों की प्रतीति हो सकती है। ऐसी स्थिति मे दो अर्थो की प्रतीति के लिए कुछ आचार्य शक्ति विशेष को स्वीकार करते है अर्थात् इन स्थितियो मे व्यजना व्यापार स्वीकार किया जाता है। ॥१८॥

अजो जयति कञ्जास्य इत्यत्रार्थौ विकल्पितौ।
साध्योऽजः सोमनिरतैरन्यत्रार्थौ बलात् कृतः ॥१९॥

उदाहरणमाह—अज इति। अत्राजशब्दे हरिहरयोर्विकल्पात् प्रकृत-श्लेषः। कञ्जशब्दे चोपमानभूतयोश्चन्द्रपद्मयोर्विकल्पादप्रकृतश्लेषः। सोम-निरतैः सोमवारव्रतनिरतैरजः शिवः साध्यः यज्ञनिरतैरजश्छागः साध्य इत्य-प्रकृतोऽर्थः शक्त्या व्यञ्जनया वा प्रतीयते। 'अजो हरौ हरे कामे विधौ छागे रघोः सुते' इति विश्व ॥१९॥

यथा—'अजो जयति' वाक्य मे प्रकृत श्लेष माना जाता है। यहाँ अज पद शिव और विष्णु दोनो का वाचक है। यहाँ श्लेष प्रकरण मे है। अत शिवभक्ति प्रकरण मे अज का अर्थ शिव होगा और विष्णु-भक्ति प्रकरण मे विष्णु। 'कजास्यः' इत्यादि पदों मे अप्रकृत श्लेष है यहाँ कजपद उपमानभूत चन्द्र और पद्म दोनो का वाचक हो सकता है। किन्तु एक काल मे अन्येतर की ही प्रतीति होती है। 'साध्यो अजः सोमनिरतैः' वाक्य मे उभयश्लेष है। यहाँ सोम पद का अर्थ सोमवार लेने पर अज पद का अर्थ शिव होगा। यहाँ सोम पद का अर्थ सोमयाग लेने पर अज पद का अर्थ छाग होगा। इस उभय श्लेष मे अप्रकृत अर्थ की प्रतीति कुछ आचार्यों के मत मे अभिधा से और अन्य आचार्यों के मत मे व्यजना होती है। ॥१९॥

अनेकलक्ष्यभेदोऽपि बाणादौ सम्भवेत् क्वचित्।
वेगेनैकेन शब्दोऽपि नानार्थो युज्यते तथा ॥२०॥

उभयश्लेषे युक्तिमाह—अनेकेति। अनया युक्त्या शक्त्यैव प्रकृताप्रकृत-श्लेषसम्भव इति भावः। व्यञ्जनया तु निर्विवाद[1] एव ॥२०॥

---

१. विनिवाद एव–मा० पा०।

जिस प्रकार कभी-कभी बाण आदि के द्वारा एक ही सधान मे अनेक लक्ष्यो का वेध कर लिया जाता है, उसी प्रकार कभी-कभी एक बार प्रयुक्त शब्द भी अनेक अर्थों का बोध करा देता है। जो लोग अप्रकृत अर्थ की प्रतीति व्यजना से मानते है उनके पक्ष मे कोई विवाद नही है। ॥२०॥

नानार्थशब्दसंकेतं प्रकृते स्मारयन्ति ये।
तद्वशात् प्रकृतेऽर्थे तु व्यापारोऽपि नियम्यते ॥२१॥

एकार्थशक्तिग्राहकाणि प्राग् दर्शितानि। इदानीमनेकार्थशब्दस्यैकस्मिन्नर्थे नियन्त्रणहेतुमाहनानार्थेति। प्रकृते स्मारयन्ति नियच्छन्तीत्यर्थः। न केवल सकेत एव एकार्थविषयो व्यापारोऽपि तथैवेत्याह—तद्वशादिति ॥२१।

नानार्थक शब्दो मे प्रकृत मे जो सकेत-विशेष का स्मरण कराते है उन स्मारको के द्वारा पदगत सकेत एक अर्थ मे ही नियत हो जाता है। ॥२१॥

संकेतस्मारकानाहुर्लिङ्गं प्रकरणं फलम्।
व्यक्तिं प्रसिद्धसान्निध्यमार्हन्तीं च समर्थताम् ॥२२॥
देशं कालश्च चेष्टाश्च साहचर्यं विरुद्धताम्।
संयुक्तत्वं वियुक्तत्वं स्वरादींश्च यथायथम् ॥२३॥

सकेतेति। आर्हन्तीमौचितीम् ॥२२॥

देशमिति। यथायथं यथार्हम् ॥२३॥

नानार्थक शप्दो मे अर्थ विशेष मे सकेत के स्मारक निम्नलिखित है। लिग अर्थात् चिन्ह, प्रकरण, फल, व्यक्ति, प्रसिद्ध पदो का सान्निघ्य, औचित्य, सामर्थ्य, देश, काल, चेष्टा, साहचर्य, विरोध, सयोग, विप्रयोग एवं स्वर इत्यादि यथावसर अर्थ विशेष मे संकेत का स्मरण कराते है ॥२२-२३॥

देवस्त्रिनेत्रो जयति शूली जयति मु[1]क्तिदः ।
स्थाणुं भजस्व विद्यायै शिवो[2]वन्द्यो जटी कधृक् ॥२४॥

देव इति । देवशब्दस्यानेकार्थस्य नेत्रत्रयरूप लिङ्ग शिवे शक्तिः-नियामकम् । अत्र लिङ्गशब्देनासाधारण चिह्नमुच्यते । न तु पुस्त्वादिकम् । शूलीत्यस्यानेकार्थस्य मुक्तिदत्वं शिवे शक्तिनियामकम् मुमुक्षुवाक्यमेतत् । तेन मुक्तिदानप्रकरणे पठितामति बोध्यम् । हे मुने ? इति पाठे तु मुनिसम्बोधनात् मुक्तिप्रकरण ज्ञेयम् ।

स्थाणुशब्दस्यानेकार्थस्य भक्तविद्याकरणरूप प्रयोजन शिवे शक्ति नियमयति । भवब्दस्यानेकार्थस्य पुस्त्वनिर्देशः शिवे शक्ति नियमति । भवानी-शब्दप्रयोगश्चेत् स्त्रीत्व शिवायाम्, कं जल धरति धारयतीति (वा) कधृग् गङ्गाधरः अत्र जटिशब्दस्य प्रसिद्धार्थसन्निधिः शिवे शक्ति नियमयति, मेघादौ जटित्वासम्भवात् ॥२४॥

'देवः त्रिनेत्रो जयति' वाक्य मे देव पद अनेकार्थक है । किन्तु त्रिनेत्र चिन्ह के कारण देव पदगत संकेत शिव अर्थ मे ही समझा जाता है । 'शूली जयति मुक्तिदः' [मुक्ति देने वाले शूली की जय हो] इत्यादि वाक्यो मे शूली पद का सकेत शिव अर्थ मे है, यह नियम मुक्तिदान प्रकरण मे रस वाक्य के प्रयुक्त होने के कारण होता है । अर्थात् यहाँ प्रकरण अर्थ सकेत का नियमन करता है । 'स्थाणु भजस्व विद्यायै' [विद्या के लिए स्थाणु की उपासना करो] वाक्य मे फलभूत विद्या के कारण स्थाणु पद का सकेत शिव अर्थ मे नियत होता है । 'भवो वन्द्यः' [भव को प्रणाम करो] वाक्य मे भव पद का पुलिङ्ग मे प्रयोग होने के कारण शिव अर्थ मे सकेत का अर्थ नियमन होता है । और यदि त्रिलिग मे प्रयोग किया जाए तो पार्वती अर्थ हो जाएगा । 'जटी कधृक् वन्द्यः' अर्थात् गगाधर जटी को प्रणाम करो वाक्य मे कधृक् 'गगाधर' रूप

---

१. 'मुक्तिदः' इत्यत्र हे मुने! इति वा पाठ इति मातृकास्थिता टिप्पणी ।

२. भवो इति टीकास्वीकृतः पाठः ।

प्रसिद्ध अर्थ की सन्निधि के कारण जटीपद का शिव अर्थ मे नियमन हो जाता है ॥२४॥

पूजितो जयति स्थाणुः स्थाणुर्जयति सर्वगः ।
स्थाणुर्जयति कैलासे कल्पान्ते स्थाणुरेककः ॥२५॥

पूजित इति । पूजायोग्यत्वं सर्वोत्कर्षश्च शिवे शक्ति नियमयति । सर्वग- इति । सर्वव्यापन-सामर्थ्य शिवे शक्ति नियमति । कैलासे इत्यत्र देशः, कल्पान्ते इत्यत्र कालश्चेति । एक एव एककः, स्वार्थेकन् ॥२५॥

'पूजितो जयति स्थाणुः' [पूजा योग्य स्थाणु की जय हो] वाक्य मे पूजायोग्यता स्थाणु पद के सकेत को शिव अर्थ मे नियत करती है। 'स्थाणुः जयति सर्वगः' [सर्वव्यापक स्थाणु की जय हो] वाक्य में 'सर्वत्र व्यापक होने का सामर्थ्य' स्थाणु पद के सकेत को शिव अर्थ मे नियमित करता है। 'स्थाणुः जयति कैलासे' [कैलास स्थित स्थाणु की जय हो] वाक्य मे देशवाचक कैलास पद स्थाणु पद के सकेत को शिव अर्थ मे नियमित करता है। 'कल्पान्ते स्थाणुरेककः ।' [प्रलय के अनन्तर अकेला स्थाणु रहता है] वाक्य मे काल वाचक स्कलपान्त पद से प्रलयकाल का बोध होने से स्थाणुपद का सकेत शिव अर्थ मे ही नियमित हो जाता है ॥२५॥

इदं लिङ्गं महेशस्य साम्बः स्थाणुर्यदाश्रितः ।
सेव्यः स्मररिपुः स्थाणुः स्थाणुर्गङ्गाधरोऽवतु ॥२६॥

इदमिति । प्रत्यक्षवाचिनेद शब्देन हस्तचेष्टया निर्देशाद् गम्यते । तेनानेकार्थय लिङ्गशब्दस्य शिवमूर्तिविषये शक्तिर्नियम्यते । साम्ब इति अम्बासाहचर्यात् स्थाणुशब्दस्य शिवे । स्मररिपुरिति । अत्र स्मरविरोधित्वेन स्थाणुशब्दस्य शिवे, गङ्गाधर इत्यत्र गङ्गासयुक्तत्वेन स्थाणुशब्दस्य शिवे ॥२६॥

'इद लिङ्ग महेशस्य' [यह शिव का लिङ्ग है] वाक्य मे 'इदम्' पद के साथ की गई चेष्टा के द्वारा 'लिङ्ग' पद के सकेत का 'शिवमूर्त्ति' अर्थ मे

नियमन हो जाता है। 'साम्बः स्थाणुः यदाश्रितः' [अम्बा सहित स्थाणु जिसके आश्रय मे है] वाक्य मे साम्ब-पद के साहचर्य से स्थाणुपद के सकेत का शिव अर्थ मे नियमन होता है। 'सेव्यः स्मररिपुः स्थाणुः' [काम के शत्रु स्थाणु की सेवा करो] वाक्य मे स्मर के विरोध के कारण स्थाणुपद के सकेत का नियमन काम के विरोधी शिव अर्थ मे होता है। 'स्थाणुः गङ्गाधरो ऽवतु' [गगाधर स्थाणु हमारी रक्षा करे] वाक्य मे गगा से सयोग का बोध होने के कारण स्थाणुपद के सकेत का शिव अर्थ मे नियमन होता है ॥२६॥

अशूलो ध्यानगः स्थाणुर्जयत्यसुरसूदनः।
संयुक्तत्वे पृथक्त्वे च स्वयमूह्यं यथायथम् ॥२७॥

अशूल इति। ध्यानगो ध्यानस्थ इत्यर्थः। अशूलः शूलविमुक्तस्तेन स्थाणुशब्दस्य शिवे शक्तिः, असुरसूदन इत्यत्र इन्द्रशत्रुवत्तत्पुरुषस्वरेण शम्भौ शक्तिर्नियम्यते। वस्तुतस्तु काव्यमार्गे स्वरो न गण्यते, 'स्वरसंस्कारयोश्छन्दसि नियमः' [शुक्लयजुःप्रातिशाख्य, सूत्र १,] इति प्रातिशाख्यग्रन्थवचनात्। संयुक्तत्वे[1] मिश्रितत्वे पृथक्त्वेऽमिश्रितत्वे च यथायथ यथायोग्यं स्वयं विभावनीयम् ॥२७॥

'अशूलो ध्यानगः स्थाणुः' [शूलरहित ध्यानस्थ स्थाणु] वाक्य मे शूलवियुक्त कहने के कारण ही स्थाणुपद का सकेत शिव अर्थ मे नियत हो जाता है। 'जयति असुरसूदनः' [असुरो का विनाश करने वाले की जय हो] वाक्य मे 'असुरश्च असौ सूदनः' विग्रह करने पर कर्मधारय समास होगा और असुर पद मे प्रकृति स्वर होगा, अर्थात् असुरपदगत उदात्त स्वर विद्यमान रहेगा, तथा 'असुराणां सूदनः' विग्रह करने पर षष्ठी तत्पुरुष समास होगा, और समासान्त स्वर अर्थात् अन्तिम 'अ' उदात्त होगा। कर्मधारय समास की स्थिति मे 'असुरसूदनः' पद का अर्थ विनाशक असुर तथा

---

१. सयुक्तत्वे इति। "शूलिविष्णू विमुक्तिदौ" इत्यत्र मुक्तिप्रदानसामर्थ्याद् विष्णुसान्निध्याच्च शूलिशब्दस्य शिवे समर्थता प्रसिद्धार्थसन्निधिश्च शक्तिनियामकौ।

पष्ठी तत्पुरुष समास की स्थिति मे असुरो का विनाशक शिव अर्थ होगा। ये दोनो अर्थ भिन्न-भिन्न स्वर की स्थिति मे समझे जायेगे, यहाँ स्वर अर्थ के नियमन का हेतु होगा। उपर्युक्त उदाहरणो मे सकेत के नियामक एक-एक तत्त्व है। इनके सयुक्त अर्थात् एकाधिक होने की स्थिति मे अथवा पृथक्-पृथक् नियामक होने की स्थिति मे उदाहरणो की कल्पना पाठक स्वय कर ले। कुछ आचार्यों का मत है कि काव्यमार्ग मे स्वर अर्थ का नियामक नही होता ॥२७॥

संकेतस्तु प्रतिव्यक्ति दुर्ज्ञेय इति हेतुभिः ।
जात्या गुणेन क्रियया सुबोधः संज्ञया तु सः ॥२८॥

इदानी संकेतोपाधि निरूपयति—सकेत इति। प्रतिव्यक्तिप्रतिपिण्डं हेतुभिर्ज्ञापकैः सुबोधो भवति सुकरो भवति, भेदकोपाध्यवलम्बनादिति भावः ॥२८॥

क्योकि पति व्यक्ति मे सकेत ग्रहण का बोध दुष्कर है, और जाति, गुण और क्रिया मे इसका बोध सुगम है, अतः जाति आदि उपाधियो में ही संकेत ग्रहण किया जाता है। कही-कही सज्ञा से व्यक्ति मे भी सकेत ग्रहण होता है ॥२८॥

सामान्यं जातिरित्युक्तं गुणः शुक्लादिको मतः ।
क्रियोक्ता चलनादिश्च संज्ञा चाकृतिरेकिका ॥२९॥

उपाधीना स्वरूपमाह—सामान्यमिति । नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यम् । सामान्यादिभिन्ने द्रव्यभेदको धर्मो गुणः । कर्तृजन्या तदिष्ट-जनिका फलावसाना च क्रिया । 'सम्यग् ज्ञायतेऽनयेति संज्ञा'ति व्युत्पत्त्या एकव्यक्तिमात्रनिष्ठत्वादाकृतेरेकत्वम् । विस्तरभयात् प्रपञ्चो न क्रियत इति बोध्यम् ॥२९॥

जाति का अर्थ है सामान्य, अर्थात् जो नित्य एवं एक होते हुए भी अनेक मे विद्यमान रहे। द्रव्य मे रहने वाले भेदक स्थिरधर्म शुक्ल इत्यादि

गुण कहे जाते है। कर्त्ता द्वारा जिसे किया जाता है, जो अभीष्ट का भी जनक है तथा फल प्राप्ति पर जिसकी समाप्ति हो जाती है, उन चलन (गमन) आदि द्रव्यगत अस्थिर धर्मों को क्रिया कहते है। 'सम्यग्ज्ञायते अनया' इस व्युत्पत्ति के अनुसार एक व्यक्ति मे विद्यमान रहने वाली आकृति को सज्ञा कहते है। उपर्युक्त जाति गुण क्रिया और सज्ञा इन चार उपाधियो मे शब्द सकेत हुआ करता है ॥२९॥

अनुविद्धः शाब्दबोधे शब्दो यादृच्छिकोऽथवा ।
डित्थादिव्यक्तिरथवा बाधाभावादुपेयताम् ॥३०॥

अनुबिद्ध इति। अथवा पूर्वोक्तव्युत्पत्त्यैव यादृच्छिकः शब्दः सज्ञेत्यन्वयः। यदृच्छया स्वैरवृत्त्या कल्पितो यादृच्छिकः। 'यदृच्छा स्वैरवृत्तिः स्यात्' इत्यमरः। पूर्वोक्तप्रवृत्तिनिमित्तशून्य इत्यर्थः। स एव प्रवृत्तिनिमित्तत्वेन कल्पितः। ननु स वाचकाद्भिन्नरूपोऽभिन्नरूपो वेत्याशङ्क्य समाधत्ते—अनुविद्ध इति। शाब्दबोधे शब्दजन्यार्थज्ञानेऽनुविद्धो वाचकाद् भिन्नतयोपाधित्वेन भासमान इत्यर्थः। यदाहुः—

'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यत्र शब्दो न भासते' [वा० प० १, १२४]

यद्यपि जात्यादिवाचकेष्वपि स भासते तथापि न तत्रोपाधितया, संज्ञाशब्दे तूपाधितयेति विशेषः।

पुनः पक्षान्तरमाह—डित्थादीति। डित्थादीना व्यक्तिरेव, बाधाभावाद्। उपाध्यभावेऽपि व्यक्त्यानन्त्यव्यभिचाररूपदोषाप्रसक्तेरिति भावः। कर्मव्युत्पत्तिः स्वभावादुपेयतां सज्ञात्वेन स्वीक्रियताम्। यथाहुः—

शब्दैरेभिः प्रतीयन्ते जातिद्रव्यगुणक्रिया ।
चातुर्विध्यादमीषा तु शब्द उक्तश्चतुर्विध ॥ इति ।

अय पक्षो माघेऽपि दृश्यते। तथाहि—

असम्पादयतः कश्चिदर्थं जातिक्रियागुणैः ।
यदृच्छाशब्दवत् पुसः सज्ञायै जन्म केवलम् ॥ [२, ४७] इति ।

जात्यादिशून्यव्यक्तिमात्रमिह सञ्ज्ञाशब्देन विवक्षितम् । यदृच्छया कल्पितत्वाद्यदृच्छाशब्देनापि सञ्ज्ञोपाधिरभिधीयत इति दिक् ॥३०॥

व्यक्तिष्वेव तु संकेतो जात्याद्यास्तदुपाधयः ।
न तु तेष्वेव संकेतः क्रियार्थानुपयोगतः ॥३१॥

व्यक्तिष्विति । तदुपाधयः=तस्य शब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तानि उप समीपे आधीयते प्रकृतोपयोगितया स्थाप्यतेऽसावुपाधिरिति व्युत्पत्तेः, 'उपसर्गे घोः किः' । [३.३ ९२] इति किः प्रत्ययः। क्रियार्थेति । गमनादिक्रियोपयोगित्व गवादिव्यक्तेरेव, जलाहरणाद्यर्थोपयोगित्व घटादिव्यक्तेरेव, चेतनाचेतनत्वात्, जात्यादेस्तु न तथेति । ननु व्यक्तिपक्षे तासामानन्त्यादसकेतितबोधे व्यभिचारा च्चाभिव्यक्तेः सकेतितत्वे इतरव्यक्तीना लाक्षणिकतया क्लिष्टत्वाच्च नाय पक्षः साधुरिति चेत् ? प्रवृत्तिनिमित्तद्वारा न कश्चिद्दोषः, सरूपाणामेकशेष [१।२।६२] इति सूत्रे यावन्तोऽर्थास्तावन्तः शब्दा इति निर्णयात् । व्यक्तिपक्षस्तूक्त एवेति दिक् ॥३१॥

अथवा क्योकि लोक मे गाम् आनय आदि वाक्यो का प्रयोग होने पर आनयन क्रिया व्यक्ति मे ही होती है, क्रिया मे जाति आदि का उपयोग नही होता, फलतः व्यक्ति मे ही सकेत स्वीकार किया जाना चाहिए। जाति आदि केवल उसकी उपाधियाँ है ॥३१॥

गौः शुक्लश्चञ्चलः शम्भोर्नन्दी वाहनकेतनम् ।
इत्यादौ क्रमतो ज्ञेयाः शब्दसंकेतहेतवः ॥३२॥

उदाहरणान्याह—गौरिति । वाहन च तत्केतनञ्चेति कर्मधारयः। जात्या गौः, गुणेन शुक्लः, क्रियया चञ्चलः, सञ्ज्ञया नन्दी बोध्य इति शेषः। समासादिवृत्तिपञ्चके[1] सकेतचातुर्विध्य नापैति । तत्र पक्षद्वय जहत्स्वार्थाऽजहत्स्वार्थभिदात् । जहत्स्वार्थापक्षे पूर्वसकेतत्यागेन वृत्तौ सत्या नूतनसकेतक्लृप्तः। अजहत्स्वार्थावृत्तिरिति पक्षे प्राचीन एव सकेत इति । विस्तरस्तु महाभाष्यादे-

१. कृत्तद्धितसमासैकशेषसनाद्यन्तधातुरूपाः पञ्च वृत्तयः ।

रवगन्तव्यः। एतदुदाहरणं वाहनकेतनमिति गुणोपाधिरयम्, व्याकरणमते वाहनकेतनत्वयोर्गुणत्वात्। यथोक्त भर्तृहरिणा[1]—

सत्त्वे निविशतेऽपैति पृथग् जातिषु दृश्यते।

आधेयश्च क्रियाजश्च सोऽसत्त्वप्रकृतिर्गुणः॥ [महाभा० ४।१।४४] इति।

'गौ शुक्लः चलः शम्भोः नन्दी वाहनकेतनम्' [शम्भु का वाहन चिह्न नन्दी वृषभ शुक्ल और चचल है] वाक्य मे गौ पद के सकेत का बोध जाति से, शुक्ल पद के संकेत का बोध गुण से, चचल पद के सकेत का बोध क्रिया उपाधि से और नन्दी पद के संकेत का बोध संज्ञा उपाधि से होता है। इस प्रकार इनमे जाति आदि क्रमशः शब्द संकेत के हेतु है। वाहनकेतनम् पद के संकेत का बोध क्रिया जाति संयुक्त उपाधिद्वय से होता है ॥३२॥

जात्यादिष्वथवा ज्ञेयः संकेतस्तत्र लाघवात्।
प्रमाणादितरस्माच्च व्यक्तेर्बोधो हि जायते ॥३३॥

उपाधिभिश्चतुर्भिश्च बोध्यन्ते व्यक्तयोऽखिलाः।
अविनाभावतस्तस्माच्छब्दवाच्या न ताः स्मृताः ॥३४॥

पक्षान्तरमाह—जात्यादिष्विति। उपाधिष्वेव सकेतः। व्यक्तेस्त्वविनाभावादाक्षेपः। लाघवादिति। एकशेषसूत्रस्यानारम्भणीयत्वेन एकेनानेकबोधाच्चेति भावः। आक्षिप्ताया व्यक्तेरर्थक्रियाकारित्व न विरुध्यत इति दिक्। इतरस्मादिति। प्रत्यक्षानुमानादर्थापत्तेर्वा ॥३३॥

उपाधिरिति। व्यक्तयोऽविनाभावतो बोध्यन्ते। व्यक्तिभिर्विनापाधीनामनवस्थानान्नान्तरीयकतया जलमानयेत्यत्राशब्दवाच्यत्वेऽपि घटवत् प्रतीयन्त भावः ॥३४॥

अथवा लाघववश शब्दसंकेत जाति आदि मे ही स्वीकार किया

१. यथोद्धृतमित्यर्थः।

जाना चाहिए। प्रमाण [शब्द प्रमाण] अथवा प्रत्यक्ष आदि के कारण व्यक्ति का बोध होकर अर्थक्रियाकारितासभव हो सकती है। अतः व्यक्ति मे सकेत मानने की आवश्यकता नही है । क्योकि व्यक्ति जाति आदि उपाधियो के बिना नही रह सकते अतः जाति आदि उपाधियो के द्वारा व्यक्तियों का बोध स्वतः हो आएगा। उन्हे शब्द वाच्य होने की आवश्यकता नही है ॥३३-३४॥

प्रमाणान्तरगम्येऽर्थे न शब्दस्य प्रमाणता ।
लाघवात् स्वीकृता तस्मात् संकेतो नास्ति वस्तुषु ॥३५॥

प्रमाणान्तरेति। अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थ इति न्यायात् प्रमाणान्तर-गम्यासु व्यक्तिषु न संकेत इति भावः ॥३५॥

शब्द प्रमाण का विषय भिन्न है और इतर प्रमाणो का विषय भिन्न। इतर प्रमाणो द्वारा गम्य विषय मे शब्द प्रमाण का प्रवेश नही होता; तथा शब्द-प्रमाण द्वारा लभ्य शब्दार्थ की प्रतीति अन्य प्रमाणो से नही होती। फलतः प्रमाणान्तरलब्ध व्यक्ति मे शब्दसकेत स्वीकार नही किया जा सकता ॥३५॥

सर्वत्र सम्भवाज्जातेः सः सा वा संकेतगोचरः ।
तद्विशिष्टाथवा व्यक्तिरपोहो वा मतान्तरे ॥३६॥

मतान्तरमाह—सर्वत्रेति। उपाधिचतुष्टयेऽपि जातिसम्भवो वैयाकरण-मते द्रष्टव्यः। हिमपयश्शाखादिषु शुक्लगुणरूपव्यक्तिभेदाद् गुडतण्डुलपाकादि-क्रियाभेदाद् डित्थादिशरीरस्योपचयापचयाभ्या प्रतिक्षण भिन्नतयाऽनेकत्वाच्च सर्वत्र सामान्यमस्तीति । यद्यपि शरीरादिशब्दानाँ सङ्करदूषितत्वाज्जाति-वाचित्वं न सम्भवति, तथापि—

आकृतिग्रहणा[1] जातिर्लिङ्गानां च न सर्वभाग् ।

---

१. अनुगतसस्थानव्यङ्ग्येत्यर्थः। यथा तटी।

मकृदाख्यातनिर्ग्राह्या[1] गोत्रञ्च[2] चरणैः सह ॥
[सि० कौ० पृ० १५२ (४।१।६३)]

इति लक्षणानुसारेण न कश्चिद्विरोधः। तद्विशिष्टेति । अस्मिन् पक्षे लाघव व्यवहारसिद्धेः स्यादिति भावः । अपोहस्तद्व्यावृत्तिः प्रतीतिलक्षणा आकृतिरिति यावत् ॥३६॥

क्योकि जाति सर्वत्र सम्भव है। अतः गुण क्रिया ओर व्यक्तियो मे सकेत न मानकर जाति मे ही सकेत माना जा सकता है। अर्थक्रियाकारिता की दृष्टि से जाति विशिष्ट व्यक्ति मे सकेत की कल्पना भी स्वीकार की जा सकती है। बौद्ध परम्परा मे अपोह अर्थात् तद्भिन्नरूप से प्रतीत आकृति मे सकेत स्वीकार किया जाता है ॥३६॥

जातिव्यक्त्याकृतिरर्थमाहुरन्येऽत्र गौरवम् ।
शब्दार्थः प्रथमा व्यक्तिरन्या लाक्षणिका मता ॥३७॥
व्यक्तेरेवोपयोगेनेत्याहुः केचिन्न चारु तत् ।
लिङ्गसंख्याकारकेषु संकेतः कैश्चिदिष्यते ॥३८॥

पुनर्मतभेदमाह—जातिरिति । तथा च सूत्रम्—'जात्याकृतिव्यक्तयस्तु पदार्थः' [न्या० सू० अ० २, आ०, २ सू० ६४] इति । अत्र गौरवमिति शक्यतावच्छेदकनानात्वादिति भावः । पुनर्मतभेदमाह—शब्दार्थ इति । इदमपि गौरवग्रस्त क्लिष्ट चेति भावः ॥३७॥

अत्रार्द्धं पूर्वश्लोकेन संबध्यते । लिङ्गसख्येति ॥३८॥

---

१. असर्वलिङ्गत्वे सत्येकस्या व्यक्तौ कथनाद् व्यक्त्यन्तरे कथनं विनापि सुग्रहा जातिरिति लक्षणान्तरम् । यथा वृषली । सत्यन्त किम् ? शुक्ला । सकृदित्यादि किम् ? देवदत्ता ।

२. अपत्यप्रत्ययान्तः शाखाध्येतृवाची च शब्दो जातिकार्य लभत इति । यथा औपगवी, कठी च ।

न्याय परम्परा मे जाति, व्यक्ति और आकृति तीनो मे सकेत माना जाता है, किन्तु इस सिद्धान्त के स्वीकार करने पर शक्यता अवच्छेदक धर्म अनेक मानने होगे, अतः गौरव दोष होगा। एक अन्य परम्परा मे शब्द सकेत व्यक्ति मे माना जाता है। उनके अनुसार शब्दार्थ व्यक्तिरूप होता है, क्योकि उसकी ही प्रथम प्रतीति होती है। शब्द के द्वारा व्यक्ति के अतिरिक्त जहाँ जाति आदि की प्रतीति होती है, वहाँ वह प्रतीति अभिधा द्वारा न होकर लक्षणा द्वारा होती है। इस पक्ष मे मुख्य तर्क यह दिया जाता है कि अर्थ क्रिया कारित्व व्यक्ति मे ही है, अतः व्यक्ति को ही शब्दार्थ मानना उचित है। कुछ आचार्य लिग सख्या और कारक मे भी सकेत स्वीकार करते है ॥३७ ३८॥

विभक्तिवाच्यता तेषां वस्तुतश्चारुतायुता ।
प्रथमं दर्शितः पक्षः साधीयानेषु सम्मतः ॥३९॥

विभक्तीति। वस्तुतस्तु पदसकेतपक्षः स्फोटवादिसम्मतः। एषु पक्षेषु प्रथमः पक्षः साधीयान् दोषरहित इत्यर्थः। अन्यत्र दोषसम्भवः स्वयमूह्यः। विस्तरभयाद् विरम्यते ॥३९॥

अर्थ प्रतीति के सबध मे आचार्यों मे तीन परम्पराएँ है—(१) एक परम्परा के अनुसार प्रत्येक पद का अर्थ नियत हुआ करता है और पदार्थ बोध के अनन्तर समन्वित होने पर वाक्यार्थबोध होता है। (२) दूसरी परम्परा के अनुसार वाक्य मे पद सदा अन्वित रहते है, और अन्वित पद रूप वाक्य से अन्वित अर्थ रूप वाक्यार्थ को एक साथ प्रतीति हुआ करती है। इस मान्यता के अनुसार पद और पदार्थ केवल काल्पनिक है। (३) तीसरी मान्यता के अनुसार पदावयव प्रकृति प्रत्यय विभक्ति आदि सार्थक होते है, और उनके समन्वय होने पर पदार्थ तथा वाक्यार्थ की प्रतीति होती है। पदार्थ और वाक्यार्थ विशुद्धरूप से काल्पनिक है। इन तीनो पक्षो को क्रमशः पदस्फोट वाक्यस्फोट और वर्णस्फोट को सिद्धान्तो के नाम से जाना जाता है। इन तीन पक्षो मे वाक्याशभूत पद सकेत पक्ष अधिक निर्दोष है, और वही सम्मत भी है ॥३९॥

शास्त्रादेर्ज्ञातसकेतः प्रयोगेऽन्यपदान्वितः ।
अर्थस्यान्वययोग्यस्य शब्दो वृत्त्यैव बोधकः ॥४०॥

शास्त्रादेरिति । सकेतस्य सर्वदा विद्यमानत्वाच्छास्त्रादिना तज्ज्ञान सपाद्य वृत्त्यैव व्यापारेणैव बोधको भवति । प्रयोगदशायामेव वृत्तिसकेतयोर्भेदः ॥४०॥

प्रत्येक पद मे निविष्ट सकेत का शास्त्र आदि से ज्ञान होने पर जब वाक्यो मे उसका प्रयोग किया जाता है, तब अन्य पदो से अन्वित अर्थ की प्रतीति होती है । इस प्रकार अर्थ से अन्वययोग्य शब्द-वृत्ति अर्थात् अभिधा आदि व्यापारो के द्वारा अर्थ का बोध कराता है ॥४०॥

शब्दानामर्थविषये बोधाभावतमश्छिदा ।
बोधानुकूला या वृत्तिः सा फलादनुमीयते ॥४१॥

वृत्तिसत्त्वे प्रमाणमाह—शब्दानामिति । अज्ञानध्वान्तनाशिनी बोधानुकूला ज्ञाततायाः कारणमित्यर्थः । फलात् ज्ञाततारूपात् अन्यथाऽज्ञातता निवृत्तिपूर्वकज्ञाततोत्पत्तिर्न स्यादिति भावः । न च शब्दस्वरूप केवलसकेतो वा फलहेतुरिति वाच्यम्, सर्वदा तदुत्पत्तिप्रसङ्गात् । प्रयोगकाल एव तदुत्पत्ते (ज्ञाततोत्पत्तेः) रिति भावः ॥४१॥

शब्दो के अर्थ बोध के सम्बन्ध मे यह भी ज्ञातव्य है कि केवल शब्द-स्वरूप अथवा केवल सकेत अर्थबोध रूप फल की उत्पत्ति मे कारण नही होता, अपितु प्रयोग के समय अर्थबोध के अनुकूल बोधा-भाव [अज्ञातता रूप अन्धकार] की दूर करने वाला एव ज्ञातता रूपी फल को देने वाला शब्द व्यापार भी रहता है । ऐसा अनुमान किया जाता है ॥४१॥

शाब्दिकैः सा स्मृतैकैव त्रिविधापि स्वरादिवत् ।
अभिधा लक्षणा व्यक्तिरित्याख्या त्रितयं मतम् ॥४२॥

शाब्दिकैरिति । अभिधा ह्रस्वतुल्या, लक्षणा दीर्घतुल्या, व्यञ्जना प्लुत-

तुल्या। स्वरत्वमिव वृत्तित्वं त्वेकमिति भावः। प्रयोजन तु शाब्दबोधस्थले लाघवमिति दिक् ॥४२॥

जिस प्रकार वैय्याकरण ह्रस्व दीर्घ और प्लुत तीन प्रकार के स्वर मानते है, उसी प्रकार शब्दार्थ की मीमासा करने वाले आचार्य अभिधा लक्षणा और व्यंजना नाम से तीन शब्द व्यापार स्वीकार करते है ॥४२॥

एतास्तिस्रः पृथक् शक्तिलक्षणाव्यञ्जनाभिधाः।
अलङ्कारविदां वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्योर्थगोचराः ॥४३॥

मतान्तरमाह—एता इति। पृथगिति। परस्परविलक्षणा विजातीयाश्च, गौरवे बोधाभावादिति भावः ॥४३॥

अभिधा, जिसे कभी-कभी शक्ति भी कहा जाता है। लक्षणा और व्यजना नामक इन तीन शक्तियों से प्रकट होने वाले अर्थ को अलकार शास्त्र के आचार्य वाच्य लक्ष्य और व्यग्य अर्थ स्वीकार करते है। इन तीनो अर्थों का पृथक्-पृथक्रूप से उपयोग काव्यो मे ही उपलब्ध होता है, अन्यत्र नही ॥४३॥

नेच्छन्ति व्यञ्जनामन्ये युक्तिभिर्दूष्यते तु तत्।
त्रिविधैषा ततः शब्दत्रैविध्यस्योपपादिका ॥४४॥

नेच्छन्तीति। दूष्यत इति। आलङ्कारिकैरित शेषः ॥४४॥

कुछ आचार्य [महिमभट्ट आदि] तथा मीमासक एवं नैय्यायिक व्यजना शक्ति को स्वीकार नही करते। आनन्दवर्धन अभिनवगुप्त और मम्मट आदि आचार्यों ने उनके पक्ष का विधिवत् खण्डन किया है। इस प्रकार ये शक्तियाँ तीन ही है, जिनके फलस्वरूप शब्दो को भः तीन प्रकार का माना जाता है ॥४४॥

स वाचको लक्षकश्च व्यञ्जकश्चेति वृत्तितः।
शक्यलक्ष्यप्रतीत्यानामर्थानां त्रिविधत्वकृत् ॥४५॥

स इति । प्रतीत्यो व्यङ्ग्यः ॥४५॥

शब्द व्यापार के आधार पर शब्दो के निम्नलिखित तीन प्रकार है—(१) वाचक, (२) लक्षक, (३) व्यजक । शब्द के इन तीन प्रकारो के आधार पर अर्थ भी शक्य [अभिधेय या वाच्य] लक्ष्य और प्रतीत्य [प्रतीयमान या व्यग्य] भेद से तीन प्रकार के हो जाते है ॥४५॥

तात्पर्याख्यापि केषाञ्चिद् वृत्तिर्वाक्यगता मता ।
न तामन्ये तु मन्यन्ते पूर्वान्तर्भावयुक्तितः ॥४६॥

कुछ आचार्य वाक्यगत तात्पर्य नामक व्यापार को भी स्वीकार करते है, किन्तु अन्य [सिद्धान्ती] आचार्यो के अनुसार तात्पर्य नामक अतिरिक्त वृत्ति मानने की अ वश्यकता नही है, क्योकि उपर्युक्त तीन वृत्तियो मे ही उसका अन्तर्भाव हो जाता है ॥४६॥

प्रथमा त्रिविधा तत्र रूढिर्योगस्तथोभयी ।
अखण्डशब्दे सा रूढिर्योगः खण्डनकल्पिते ॥४७॥

मिश्रोभयत्वसाकाङ्क्षे क्रमेणासौ प्रदर्श्यते ।
शिवं स्मरे गणपतिं देवं वन्दे पुरद्विषम् ॥४८॥

प्रथमा = अभिधा, उभयी = योगरूढिः, खण्डनकल्पिते = प्रकृत्यादि-विभागजनिते ॥४७॥

मिश्रेति । मिश्रा योगरूढिः । शिवमिति । शिवशब्दो ह्यखण्डः, प्रकृत्यादि-विभागाप्रतीतेः । यद्यपि शिवतत्त्वविवेके—

हिंसि धातोः सिंहशब्दो वशकान्तौ शिवः स्मृतः ।
वर्णव्यत्ययतः सिद्धौ पश्यकः कश्यपो यथा ॥

इति सखण्डत्वमपि दृश्यते, तथापि सर्वविदितत्वाभावादनस्तिकल्पम् । गणपतिरिति खण्डनकल्पितत्वाद्योगः । पुरद्विषमिति क्विबन्तत्वाद्योगः । शिव एव प्रयोगादितरपुरदाहकनृपादावप्रयोगाच्च रूढिः ॥४८॥

अभिधा शक्ति के पुनः तीन प्रकार हो जाते है—(१) रूढिमयी, (२) योगमयी तथा (३) उभयी। जिन शब्दो मे धातु प्रत्यय के आधार पर खण्ड की कल्पना नही की जा सकती, उन शब्दो मे रूढि अभिधा मानी जाती है। जिन शब्दो मे व्युत्पत्तिमूलक खण्ड किए जा सकते है, उन शब्दो मे रहने वाली अभिधा को योगमयी अभिधा अथवा यौगिक अभिधा कहते है। जिन शब्दो मे प्रकृति प्रत्यय भेद की कल्पना तो की जा सकती है, किन्तु उस कल्पना के आधार पर प्रकट होने वाले सभी अर्थों को स्वीकार न करके अन्यतम को ही स्वीकार किया जाता है, उन शब्दो मे रहने वाली अभिधा शक्ति को उभयी अथवा योगरूढि अभिधा कहते है। 'शिव स्मरे' वाक्य मे शिव शब्द मे रूढि अभिधा है। 'गणपति देव वदे' वाक्य गत 'गणपति' शब्द मे यौगिक अभिधा है। तथा 'देव वदे पुरुद्विपम्' वाक्यगत 'पुरद्विप्' शब्द मे योगरूढि अभिधा स्वीकार की जाती है, क्योकि प्रथम अंश मे खण्ड की कल्पना सम्भव नहीं है, जबकि द्वितीय अंश मे समास विग्रह के आधार पर प्राप्त होने वाला व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ भी स्वीकार किया जाता है। इसके विपरीत तृतीय अथवा पुरद्विष शब्द मे खण्ड की कल्पना तो की जाती है, किन्तु व्युत्पत्ति लभ्य अनेक अर्थों मे से केवल एक अर्थ ही स्वीकार किया जाता है, अतः इस पद मे योग रूढि अभिधा मानी जाती है ॥४७–४८॥

शब्दावयवयोगेन योगशक्तिरनेकधा।
गुणाश्रया नीलकण्ठे मारमारे क्रियाश्रया ॥४९॥

शब्देति। अनेकधेति। [1]अभिधानचिन्तामणौ योगोऽन्वयः। स तु गुण-क्रियासम्बन्धाभिसम्भव इति ॥४९॥

शब्दावयव के आधार पर योगशक्ति [यौगिक अभिधा] अनेक प्रकार की हो सकती है, उदाहरणार्थ 'नीलकण्ठ' शब्द मे गुणाश्रया यौगिक अभिधा है, तथा 'मार-मार' [मारजित्] शब्द मे क्रियाश्रया यौगिक अभिधा कही जा सकती है ॥४९॥

---

१. बहुशोऽन्विष्टोऽपि तत्र नोपलब्धोऽयं पाठः।

सम्बन्धजापि वाक्यादौ विचित्रा त्रिपुरद्विषि ।
क्वचिद् रूढौ क्वचिद् योगे मिश्राविश्रान्तिरिष्यते ॥५०॥

सम्बन्धजेति । विचित्रेति । द्वेषगुणाश्रया द्वेषणक्रियाश्रया च द्वेष्यद्वेषकभावसम्बन्धाश्रया चेत्यर्थः । द्वेषस्य गुणत्व तर्कशास्त्रादवगन्तव्यम् । योगरूढौ भागत्यागलक्षणायामिव प्रयोगानुसारादमिश्रणमपि सम्भवतीत्याह—क्वचिदिति । प्रसिद्धप्रयोगेष्वित्यर्थः ॥५०॥

कई बार वाक्य आदि मे द्वेषगुणाश्रया, द्वेषणक्रियाश्रया, द्वेष्य-द्वेषकभाव सम्बन्धाश्रया विचित्र अभिधा भी देखी जा सकती है । 'त्रिपुर द्विष्' शब्द इस प्रकार की सम्बन्धाश्रया अभिधा का उदाहरण है । कभी कभी योग रूढि शब्दो मे भी केवल योग अथवा केवल रूढि की विवक्षा भी हो सकती है ॥५०॥

उभयत्र तु सर्वत्र शम्भुं वन्दे मृडं नृणाम् ।
शङ्करः स्तूयतामेवं पदैः शक्तैः सुखार्थिभिः ॥५१॥

इति श्रीपदवाक्यप्रमाणपारीणरामजिभट्टात्मजाशाधरभट्टविरचिते कोविदानन्दे वृत्तिनिर्णयेऽभिधापरिच्छेदः प्रथमः ॥

उभयत्रेति । सर्वत्र शब्देषु योगरूढप्रयोगेष्वित्यर्थः । उदाहरणान्याह—शम्भुमिति । शं भवत्यस्मादिति शम्भुरिति योगेन शिववाचकतया प्रसिद्ध्या च शम्भुशब्दो योगरूढः । तस्यात्र योगो न विवक्षितः, नृणा मृडमिति विशेषणानुरोधात् । एवं मृडशब्दोऽपि मृडयतीति मृड इति योगेन शिववाचकतया प्रसिद्ध्या च योगरूढः ।

तस्य रूढिर्न विवक्षिता किन्तु योगमात्रम्, शम्भुमिति विशेष्यप्रयोगानुरोधात् । शङ्कर इति । शं करोतीति योगेन शिववाचकत्वेन प्रसिद्ध्या च शङ्करशब्दो योगरूढः । तस्योभयमपि विवक्षितमेव बाधकाभावात् । न चात्र भागत्यागलक्षणा शङ्क्या, मुख्यार्थबाधाभावात् । एवमन्यत्रापि—

स्वयम्भूः शम्भुरम्भोजलोचने त्वत्पयोधरः ।
नखेन कस्य धन्यस्य चन्द्रचूडो भविष्यति ॥

इत्यादावपि द्रष्टव्यम् । विस्तरभयाद्विरम्यते ॥५१॥

इति श्रीपदवाक्यप्रमाणपारावारीणधुरीणरामजिभट्टात्मजाशाधरभट्टविरचिताया कादम्बिनीसमाख्याया स्वकृतकोविदानन्दव्याख्यायामभिधापरिच्छेदः प्रथमः ॥

उदाहरणार्थ शम्भु शब्द 'शम् भवति अस्मात्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार यौगिक माना जा सकता है, किन्तु इसमें योग की विवक्षा नही रहती और यह पद शिव अर्थ मे रूढ हो गया है । इसी प्रकार 'मृड' शब्द 'मृडयति इति मृडः' व्युत्पत्ति के अनुसार यौगिक माना जा सकता है, किन्तु यह पद भी शिव अर्थ मे ही रूढ है । यही स्थिति 'सुखार्थिभि. शकरः स्तूयताम्' वाक्य में शकर पद की है, यहाँ शकर पद मे योग और रूढि दोनो की विवक्षा है ॥५१॥

व्याकरण 'पद' मीमासा 'वाक्य' और प्रमाण 'न्याय' के विद्वान् रामजी भट्ट के पुत्र आशाधर भट्ट विरचित वृत्ति निर्णय विषयक कोविदानन्द ग्रंथ मे अभिधा परिच्छेद नामक प्रथम परिच्छेद पूर्ण हुआ ।

अथ लक्षणानिरूपणम्

शक्यार्थबाधे संकोचः प्रसारः प्लुतिरेव वा।
संकेतस्य स्मृता वृत्तिर्लक्षणा योगसम्भवे ॥१॥

अभिधा निरूप्य लक्षणा निरूपयति—शक्येति। शक्यार्थस्य संकेतितार्थस्य बाधे प्रवृत्तानुपयोगे सति संकोचो न्यूनत्व प्रसारश्चाधिकत्व प्लुतिरुल्लङ्घन तत्त्यागेनान्यार्थाश्रयणमित्यर्थः। योगसम्भवे सम्बन्धसत्त्वे न तु सम्बन्ध एव लक्षणेति भावः ॥१॥

शक्यार्थ [मुख्यार्थ] का बाध होने पर योग अर्थात् सम्बन्ध विच्छेद की सहायता से लक्षणा व्यापार अर्थ की प्रतीति कराता है। इस व्यापार की स्थिति मे शब्द सकेत मे सकोच प्रसार अथवा उसका त्याग हो जाता है ॥१॥

त्रैविध्यमेतच्छक्तेर्वा लक्षणावृत्तिरिष्यते।
वृत्तिः संकेतयोः केचिन्मन्यन्त उभयोरपि ॥२॥

पक्षान्तरमाह—शक्तेरिति। शक्तेरभिधाया एतत्संकोचादित्रैविध्यम् वृत्तित्वेनैतस्या एवौचित्यादिति भावः। उभयोरपीति। वस्तुतस्तु विनिगमना विरहादिति भावः ॥२॥

शब्द सकेत के उपर्युक्त सकोच आदि के आधार पर कुछ आचार्य अभिधा व्यापार मे त्रैविध्य मानते है। एक अन्य मत के अनुसार अभिधा व्यापार और शब्द सकेत दोनो मे ही यह सकोच, प्रसार और त्याग हुआ करता है ॥२॥

प्लुतिस्तु जहती नाम प्रस्तारोऽजहती च सा।
संकोच उभयी ज्ञेया सम्बन्धादप्यनेकधा ॥३॥

उक्तक्रमप्रातिलोम्येन प्रसिद्धमाह—प्लुतिरिति । अनेकधेति । शक्य-लक्ष्ययोः प्रसिद्धतामाह—सम्बन्धस्य नानाविधत्वाल्लक्षणापि तथेत्यर्थः ॥३॥

अभिधा आदि के त्याग की स्थिति मे होने वाली लक्षणा को जहती लक्षणा उनके प्रसार की स्थिति मे अजहती लक्षणा और सकोच क स्थिति मे उभयी अर्थात् जहदजहती लक्षणा होती है। अभिधेयार्थ और लक्ष्यार्थ के मध्य विद्यमान रहने वाले सम्बन्ध के आधार पर भी लक्षणा के अनेक भेद हो सकते है ॥३॥

ॐकारलिङ्गं रेवायां शोणैरर्च्य दिनोदये ।
यतः प्रफुल्लाः पद्मिन्यस्तत्रेत्यादौ यथाक्रमम् ॥४॥

उदाहरणान्याह—रेवायामिति । अत्र रेवाशब्देन तत्तीरे लक्षणा, स्थापितस्य ज्योतिर्लिङ्गस्य प्रवाहेऽवस्थानासम्भवादत्र मुख्यार्थबाधः । प्रवाहतीरयोः संयोगसम्बन्ध । रेवाशब्दे जहती नाम लक्षणा। जहत्त्व शब्दधर्मो लक्षणायामारोप्यतेऽन्तर्भावितण्यर्थो वा जहातिः, धातूनामनेकार्थत्वात् । अत्र गङ्गाया घोष इति प्रसिद्धोदाहरण तून्नेयप्रत्यक्षत्वाद् घोषशब्दस्यानेकार्थत्वाच्च सन्दिग्धम्, इदं तु स्पष्टमिति बोध्यम् । शोणैरिति । शोणगुणस्य पूजोपयोगासम्भवात् तद्वति द्रव्ये लक्षणा । सा चाजहद्गुणरूपाऽर्थस्य त्यागाभावात् । समवायश्चात्र सम्बन्धः । शोणो धावतीति प्रसिद्धोदाहरण तून्नेयप्रकरणत्वेनास्पष्टम् । इह तु पूजाप्रकरणात् पद्मिनीसमवायोक्तेश्च कमलपरत्वेन स्पष्टतरमिति बोध्यम् । पद्मिन्य इति । पद्मिनीशब्देन तदेकदेशेषु जहदजहल्लक्षणा, सर्वावयवानां प्रफुल्लत्वासभवात् । अप्रफुल्लाना त्यागः प्रफुल्लाना चावयवाना पद्मिनीशब्देन लक्षणयोपस्थितिः । अप्रफुल्लावयवाना प्रत्यक्षेणोपलम्भाद् मुख्यार्थबाधः, समवायश्चात्र सम्बन्धः । प्रफुल्ला इति फुल्ल विकसने इति धातोः पचाद्यचि ज्ञेयम् । 'अनुपसर्गात् फुल्ल०' [८।२।५५] इत्यादिसूत्रं तु धात्वन्तरविषयम् । लक्षणा वेदान्तेषु 'तत्त्वमसि' इति महावाक्ये ब्रह्माद्वैतप्रतिपादनाय स्वीकृता । तत्प्रपञ्चस्तु विस्तरभयान्न क्रियते ॥४॥

'ओकारलिङ्ग रेवायाम्' वाक्य मे रेवा नदी अर्थात् जल धारा मे

'ज्योतिलिङ्ग' की स्थापना सम्भव नही है। अतः मुख्यार्थ बाध के कारण प्रवाह से सयोग द्वारा सम्बद्ध तोर की 'रेवा' शब्द से प्रतीत होगी। यहाँ रेवा शब्द मे जहती लक्षणा है। यहाँ 'जहत्व' धर्म शब्द मे रहने वाला है, जिसका लक्षणा पर आरोप किया गया है। क्योकि शब्द ने अपने अर्थ को छोड दिया है। 'शोणैरर्च्यम् दिनोदये' वाक्य मे विद्यमान 'शोण' पद गुण वाचक है। 'अर्चना' द्रब्य से सम्भव है, गुण से नही। इस प्रकार मुख्यार्थ बाध होने पर शाण पद के अर्थ लाल गुण से युक्त पद्मिनी आदि पुष्प-द्रव्य का बोध होता है। यहाँ शोण पद के अभिधेयार्थ 'लाल' गुण और लक्ष्यार्थ लाल पुष्प के बीच समवाय सम्बन्ध है। प्रस्तुत वाक्य मे लक्ष्यार्थ की प्रतीति के समय शेष गुण का त्याग नहीं होता, अतः इसे अजहती लक्षण कहा जाएगा। 'यतः प्रफुल्लाः पद्मिन्यः' [क्योंकि उस समय पद्मिनी खिली होती है] वाक्य मे 'पद्मिनी' पद से पूजा प्रकरण मे सरोवर अर्थ की सगति न होगी, अतः पद्मनी मे समवाय सम्बन्ध स सबद्ध पद्म अर्थ की प्रतीति लक्षणा द्वारा होगी। पद्मिनी से प्रतीत होने वाले इस अथ मे प्रफुल्ल पद्मो का ग्रहण और अप्रफुल्ल पद्मो का त्याग होता है। इस प्रकार कुछ अवयवो के त्याग और कुछ अवयवो के ग्रहण के कारण उभयी लक्षणा अर्थात् जहदजहता लक्षणा स्वीकार की जाएगी। वेदान्त मे 'तत् त्वमसि' इत्यादि महावाक्यो की व्याख्या मे भी जीव ब्रह्माद्वैत का बोध जहदजहती-लक्षणा के द्वारा ही होता है ॥४॥

शक्यलक्ष्यार्थसम्बन्धं लक्षणां तार्किका विदुः।
अन्यैः शक्यान्यसम्बन्धे प्रोक्ता भक्तेः सहायता ॥५॥

शक्येति। लक्षणायाः क्रियारूपत्वात् सम्बन्धस्य तद्भिन्नत्वाच्च तन्मत विरुद्धमिव भातीति तदपमर्दकमालङ्कारिकमतमाह—अन्यैरिति। आलङ्कारिकैः शक्यार्थस्य सम्बन्धे भज्यतेऽनयेति भक्तिः, बाहुलकात् करणे क्तिन्, बुद्ध्यादिशब्दवत् तस्या लक्षया अभिधाया संकेतस्यैव सहकारित्वमुक्त न तु तस्मिन्नेव लक्षणात्वमङ्गीकृतमिति भावः ॥५॥

नैय्यायिक लोग शक्यार्थ और लक्ष्यार्थ के सम्बन्ध को लक्षणा कहते है।

यह उचित नही है । क्योकि लक्षणा एक व्यापार है, क्रिया है । वह सम्बन्ध रूप नही हो सकता । आलंकारिक आचार्य 'शक्यार्थस्य सम्बन्धे भज्यते अनया द्वितीयो अर्थः सः भक्ति' व्युत्पत्ति के आधार पर लक्षणा के लिए भक्ति शब्द का प्रयोग भी करते है । उनके अनुसार लक्षणा मे अभिधा सकेत सहकारी हुआ करते है ॥५॥

सम्बन्ध एव भक्तिश्चेच्छब्दवृत्तिर्न सा भवेत् ।
अर्थाश्रयत्वाद् भक्तिस्तु शब्दद्वारार्थगा मता ॥६॥

अत्र युक्तिमाह—सम्बन्ध इति । सम्बन्धस्य क्रियाभिन्नत्वादर्थमात्रनिष्ठत्वाच्च स भक्तेर्भिन्न एवेति भावः । यद्यपि भक्तेरर्थगतत्वमपि स्वीकृतम्, तथापि प्रदीपप्रभाया घटादिष्विव विषयतामात्र तदवस्थान तु शब्द एवेत्याह—शब्दद्वारेति ॥६॥

यदि शक्य लक्ष्यार्थ सम्बन्ध को ही भक्ति [लक्षण] स्वीकार किया जाए, तो वह शब्द का व्यापार न हो सकेगा । भक्ति क्योकि अर्थाश्रित है अतः शब्द द्वारा अर्थ तक उसकी गति हो सकती है, अतः उसे व्यापार के रूप मे स्वीकार किया जा सकता है ॥६॥

त्रिविधापि पुनर्द्वेधा निरूढा च फलान्विता ।
स्तुवन्ति वाग्भिरर्चन्ति पाणिभिर्नीललोहितम् ॥७॥

भक्तेभेदान्तरमाह—त्रिविधेति । निरूढा अनादिसिद्धा । ननु तस्याः शक्तितः कि वैलक्षण्य मतं कोशादिष्वपि निरूढशक्तिनिवेशो दृश्यत इति चेदुच्यते—'स्वान्तं हृन्मानस मनः' इत्यादौ शरीरावयवरूपमुख्यार्थबाधात् 'हृत्प्रतिष्ठम्' इति श्रुत्युक्ताधाराधेयभावादिसम्बन्धाच्च वैलक्षण्यमिति द्रष्टव्यम् । यस्य तु स्वान्तादिशब्दस्य मुख्योऽर्थो न प्रसिद्धस्तत्र तु शक्तिरेवेति दिक् । फलान्विता आधुनिकी प्रयोजनप्रतिपत्तये स्वीकृतेत्यर्थः । उदाहरणमाह—वाग्भिरिति । वाक्शब्दोऽत्र शब्दोच्चारणहेतुभूतेन्द्रियस्य वाचकः, तज्जन्यत्वाच्छब्दे लाक्षणिकः । पाणिभिरिति । पाणिशब्दः पूजादिसाधनभूतप्रियस्य

मुख्यतया वाचकः, तदधिष्ठते हस्तरूपे शरीरावयवे लाक्षणिकः। पूर्वत्र जहल्लक्षणा, शब्दानामेव स्तुत्यन्वयात्। उत्तरत्र च निरूढा जहल्लक्षणा प्रियतदधिष्ठात्रोरन्वयात्, मुख्यार्थपरित्यागेनाधिकारार्थस्वीकारात्। नीललोहितमिति शिवविशेषणं वामनोक्तन्यात्। तत्र नीललोहितशब्दे निरूढा जहल्लक्षणा भागत्यागसद्भावात्। जटिल शिवमिति पाठः। उभयत्रापि निरूढा जहल्लक्षणा द्रष्टव्या। वाग्भिः पठित्वा स्तुवन्ति, पाणिभिरगुल्यग्रैर्गृहीत्वाऽर्चन्तीति प्रयोगे तु शक्तिरेव, मुख्यार्थबाधाभावात्। एवञ्च क्षुरादिशब्दानामधिष्ठाने, गुणादिशब्दाना तत्कार्येषु प्रियादिषु आत्मादिशब्दाना तदुपलब्धियोग्येष्वन्तःकरणादिष्वियमेव लक्षणा द्रष्टव्या ॥७॥

द्वितीय कारिका मे लक्षणा के त्रैविध्य की चर्चा की गई है। यह त्रिविधा लक्षणा पुनः दो प्रकार की होती है। 'निरूढा लक्षणा तथा' फलवती अर्थात् प्रयोजनवती लक्षणा। 'स्तुवन्ति वाग्भिः' इस वाक्य मे 'वाक्' शब्द वाग् इन्द्रिय मे उत्पन्न होने वाले स्तुति वचनो का लक्षणा द्वारा बोधक है। इस प्रकार के प्रयोग परम्परा मे सुविदित है, अतः प्रयोजन के बिना भी ऐसे प्रयोग कर लिए जाते है। अतः इस प्रकार के प्रयोगो को निरूढा लक्षणा का उदाहरण माना जाएगा। 'अर्चन्ती पाणिभिः नीललोहितम्' [शिव की पाणि से पूजा करते है] वाक्य मे पाणि शब्द अङ्गुली पर्यन्त बाहु का वाचक है। किन्तु अर्चना केवल हस्तरूप अग्र भाग से ही की जाती है अतः हस्तरूप शरीर अवयव की प्रतीति लक्षणा द्वारा होती है। 'पाणि' शब्द का प्रयोग भी हस्तावयव के लिए प्रयोग परम्परा मे शक्ति के अभाव मे भी बहु प्रचलित है, अतः प्रयोजन के बिना ऐसे प्रयोग कर लिए जाते है। प्रथम उदाहरण मे शरीर के अवयव वाक् का त्याग कर दिया जाता है, अतः वहाँ जहती निरूढा लक्षणा है। द्वितीय वाक्य मे पाणि शब्द मे अजहती लक्षणा है। यही 'नीललोहितम्' पद मे उभयी लक्षण है ॥७॥

प्रासादाः सन्ति रेवायां यष्टयः प्रविशन्ति यत्।
प्रदोषे जनसम्बाधे शम्भवाम्भः क्षिपन्ति च ॥८॥

फलउक्षणामुदाहरति—प्रसादा इति। रेवायामिति पूर्ववज्जहल्लक्षणा।

तत्फलं तु पूजासौकर्यप्रतीतिः। यष्टय इति। यष्टिशब्देन यष्टिधरेषु जहल्लक्षणा ; तत्फल तु गाढसम्मर्दप्रतीति. । तेन च स्थलमहिमातिशयप्रतीतिस्ततश्च सेव्यत्वप्रतीतिरिति च । शम्भाविति । शम्भुशब्देन जलक्षेपाधिष्ठानभूते लिङ्गैकदेशमात्रे जहदजहल्लक्षणा। तत्फलं चोक्तमेव ॥८॥

'प्रासादाः सन्ति रेवायाम्' इस वाक्यांश मे प्रवाह-वाचक 'रेवा' पद से लक्षणा के द्वारा रेवा तट अर्थ की प्रतीति होती है, जिसका प्रयोजन पूजा के सौकर्य, स्थलमहिमा के अतिशय की प्रतीति और उससे अवश्य सेव्यत्व की प्रतीति होती है। 'प्रदोषे जन सम्बाधे यष्टः प्रविशन्ति यत्' [प्रदोष के समय भीड़-भाड़ के बीच दण्डी अर्थात् 'दण्डधारी शिवभक्त' प्रवेश करते है] वाक्य मे यष्टि शब्द से यष्टिधरो की बहुलता की प्रतीति होती है। 'शम्भौ अम्भः क्षिपन्ती च' [शम्भु पर जल चढाते है] वाक्याश मे शम्भु पद से शरीर का एक देश लिङ्ग अर्थ की प्रतीति जहत्-अजहत् लक्षणा द्वारा होती है। इस लक्षणा का प्रयोजन पूज्यत्व अतिशय की प्रतीति है। उपर्युक्त तीनों ही उदाहरणो मे लक्षणा का फल अर्थात् प्रयोजन अगूढ नही है ॥८॥

यः श्रुत्योः कुण्डले धत्ते यच्छ्रुती चक्षुषोः स्थिते।
तन्नागभूषणं वन्दे देवदेवं हृदि स्थितम् ॥९॥

गूढव्यङ्ग्यामुदाहृत्यागूढव्यङ्ग्यामुदाहरति—यः श्रुत्योरिति । श्रुतिशब्देन कर्णाधोभागे जहल्लक्षणा । तत्फल तु सच्छिद्रतया धारणक्षमत्वप्रतीतिः। तच्चागूढ झटिति प्रतीतेः। ययोः कुण्डलयोः श्रुती यच्छ्रुती श्रोत्रेन्द्रियमित्यर्थ । चक्षुषोश्चक्षुरिन्द्रियाधिष्ठितगोलकयोः स्थितेन चक्षुश्शब्देन तदधिष्ठाने जहल्लक्षणा। तत्फल तु चक्षुःश्रोत्रयोः सामानाधिकरण्यप्रतीतिः। तच्च पूर्ववत् सर्वेषां चक्षुःश्रवत्वादिति भावः । नागभूषणशब्देन नागाधिष्ठितावयवमात्रे जहदजहल्लक्षणा । तत्फल त्वलौकिकस्वभावत्वावगतिः। तच्च प्राग्वत्। देवदेवमित्यत्र द्वितीयदेवशब्देन तत्सदृशे लक्षणा। सा चार्थान्तरसंक्रमितवाच्यस्य ध्वनेर्मूलम्। हृदि स्थितमिति। हृच्छब्देन मनसि लक्षणा।

सा चात्यन्ततिरस्कृतवाच्यस्य ध्वनेर्मूलमिति प्रसङ्गादुदाहरणे प्रदर्शिते। निरूढापि फलवती स्याद्विवक्षावशादिति चोक्तं भवति। हृदि स्थितमित्यत्र सान्निध्यप्रतीतिरूपफलस्य विवक्षितत्वादिति ॥९॥

'यः श्रुत्योः कुण्डले धत्ते' वाक्य मे श्रुति शब्द लक्षणा द्वारा कान के निम्न भाग का बोधक है। इसका प्रयोजन उक्त भाग मे छिद्र होना और कुण्डल धारण करने को क्षमता की प्रतीति है। 'यत् श्रुतिः चक्षुषोः स्थिते' [जिसके श्रोत्र नेत्रो मे स्थित है] वाक्य मे चक्षु शब्द से चक्षु इन्द्रिय के आधार भूत गोलको की लक्षणा द्वारा प्रतीति होती है। इस प्रयोग का प्रयोजन चक्षु और श्रोत्र मे सामानाधिकरण्य की प्रतीति है। क्योंकि नाग की श्रोत्र-इन्द्रिय चक्षु गोलक मे ही स्थित रहती है। [इसीलिए उसे चक्षुश्रुवा भी कहते है।] 'तम् नागभूषणं वन्दे' [नागभूषण उन शिव को प्रणाम है] वाक्य मे नाग-भूषण शब्द से नाग अधिष्ठित अवयव अर्थ की प्रतीति लक्षणा द्वारा होती है। इस लाक्षणिक प्रयोग का फल वन्दनीय शिव के अलौकिक स्वभाव की प्रतीति है। 'देवदेवं वन्दे हृदि स्थितम्' वाक्य मे देव शब्द से देव-सदृश अर्थ की लक्षणा द्वारा प्रतीति होती है। यहाँ यह लक्षणा अर्थान्तरसक्रमितवाच्य ध्वनि का मूल है। 'हृदिस्थितम्' वाक्याश मे 'हृत्' शब्द से लक्षणा द्वारा 'मनस्' अर्थ की प्रतीति होती है। यह लक्षणा अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि का मूल है। 'हृत्' शब्द का प्रयोग मन अर्थ मे क्योकि बहुधा होता है, अतः यहाँ निरूढा लक्षणा है, यह सदेह हो सकता है। किन्तु यहाँ सान्निध्यप्रतीतिरूप फल की विवक्षा होने के कारण निरूढा लक्षणा की सभावना होते हुए भी फलवती लक्षणा मानी जाएगी ॥९॥

निरूढा भक्तिरफला गूढागूढफलाऽपरा ।
क्रमेण दर्शिताऽन्येऽपि भेदाः सन्ति ब्रवीमि तान् ॥१०॥

निरूडेति। अफला व्यङ्ग्यार्थ रहिता, परा फलवती गूढव्यङ्ग्या अगूढ-व्यङ्ग्या चेति। एव व्यधिकरणपदविषया लक्षणा नवविधा। अन्यापि समाना-धिकरणविषया इत्यर्थाल्लभ्यते ॥१०॥

इस प्रकार पूर्वोक्त उदाहरणो मे निरूढा लक्षणा, जिनमे कोई फल या प्रयोजन नही रहता, तथा प्रयोजनवती लक्षणा गूढ और अगूढ फलयुक्त लक्षणा के उदाहरण क्रमशः दिखाए गए है। लक्षणा के कुछ अन्य भेद भी होते है, जिनकी चर्चा अग्रिम कारिकाओ मे की जा रही है ॥१०॥

सारोपा सा मता यत्र विषयी विषयान्वितः।
ज्ञेया साध्यवसाना सा विषयी यत्र केवलः ॥११॥

सारोपेति। विषयी आरोप्यमाणः विषयस्त्वारोपगोचरः, तावुभावपि यत्र सामानाधिकरण्येन निर्दिष्टौ भवतः सा सारोपा, आरोप्यमाणेन सह वर्तमाना सारोपा, भेदे सत्यभेदकल्पनमारोपः। यत्र च विषयो न निर्दिश्यते तत्र साध्यवसाना, अध्यवसानेन सह वर्तमाना साध्यवसाना। अध्यवसानमाहार्यनिश्चयः। सं तु भेदमनिर्दिश्याभेदकल्पनारूपः। ननु तत्त्वमसीति वाक्ये सारोपा साध्यवसाना वा ? नाद्यः, आरोपस्य मुखपङ्कजादिभिन्नपदार्थविषयत्वाज्जीवपरमात्मनोस्तात्त्विकाभेदस्यारोपशब्दवाच्यत्वाभावाच्च। नापि द्वितीयः, विषयविषयिणोरुभयोरपि निर्देशात्, विषयिमात्रनिर्देशस्य तत्राकाङ्क्षितत्वाच्च। अत्रोच्यते—यत्र समानाधिकरणस्थले आरोपोऽध्यवसान वा तत्रैव लक्षणेति न नियम किन्तु प्रयोगप्रायादभेदककल्पनामात्रं, तेनारोपाध्यवसानयोरसभवेऽपि भागत्यागलक्षणामात्रं न निषिध्यते। ननु तर्हि सारोपसाध्यवसानयोर्यथार्थभेदाद् भेदेऽप्यधिकभेदप्रसक्तिः स्यादिति चेन्न, छत्रिन्यायेन गौण्या वा यथार्थभेदस्यारोपत्वसभवादिति दिक्। अत्र सम्बन्धत्रयविचारविशेषस्तु वेदान्तशास्त्रादवगन्तव्य ॥११॥

उपर्युक्त लक्षणा सारोपा और साध्यवसाना भेद से दो प्रकार की हो सकती है। जहाँ विषय और विषयी दोनो का प्रयोग किया जाता है अर्थात् लक्षक शब्द के साथ ही साथ वाचक शब्द का भी प्रयोग होता है, वहाँ सारोपा लक्षणा होती है। जहाँ विषय का प्रयोग न होकर केवल विषयी [लक्षक पद] का ही प्रयोग होता है, वहाँ साध्यवसाना लक्षणा समझनी चाहिए ॥११॥

कार्यकारणभावाद् भेदौ शुद्धाविमौ स्मृतौ ।
सादृश्ये सति गौणौ च शक्यलक्ष्यगुणाश्रयात् ॥१२॥

कार्येति । शुद्धाविति । साक्षात्सम्बन्धहेतुकावित्यर्थः । गौणौ गुणहृतौ अमुख्यौ, परम्परासम्बन्धाश्रयत्वात् ।।१२।।

संबध के आधार पर भी लक्षणा के दो भेद होते है । जहाँ सादृश्य के अतिरिक्त कार्यकारणभाव आदि सम्बन्ध लक्ष्यार्थ की प्रतीति कराते है, वहाँ शुद्धा लक्षणा मानी जाती है, और जहाँ शक्यार्थ [वाच्यार्थ] और लक्ष्यार्थ मे गुणसाम्य के कारण लक्षणा होती है, वहाँ [सादृश्य सबन्ध होने पर] गौणी-लक्षणा कही जाती है । इसे गौणी इसलिए कहते है, क्योकि यहाँ शक्य और लक्ष्य मे गुण सम्बन्ध रहता है ।।१२।।

निरूढा शुद्धसारोपा शिवं शम्भुं भजेदिति ।
शिवं भजेदिति परा कार्यकारणभावतः ॥१३॥

निरूढेति । शिवं कल्याणकरं शम्भुविशेषणमेतत्, न तु तन्नामधेय पुनरुक्त्यापत्तेः । रुद्रः शिव इति प्रसिद्धमेव शिवमित्यतिप्रसिद्धतया शम्भोरप्रयोगाद् विषयिमात्रनिर्देशः । यदि तु व्युत्पत्तिराश्रीयते तदा शिवशब्दः शुक्लादिशब्दवत् शक्तेरेवोदाहरणम् । अव्युत्पत्तिपक्षे तु लक्षणाया एवेति सिद्धान्तः । १३।।

शुद्धा और गौणी लक्षणा के उदाहरण निम्नलिखित रूप से द्रष्टव्य है । 'शिवं शम्भु भजेत्' वाक्य मे वाचक शम्भुपद और लक्षक शिव पद का प्रयोग होने से सारोपा लक्षणा है । यहाँ वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ में कार्य-कारण भाव सम्बन्ध है, इसलिए इसे शुद्धा-सारोपा कहा जाएगा । इसी वाक्य मे से वाचक शम्भु पद हटा देने पर 'शिवं भजेत्' वाक्य शेष रहेगा । यहाँ विषय-वाचक पद का प्रयोग न होने के कारण 'साध्यवसाना शुद्धा-निरूढा-लक्षणा' मानी जाएगी ।।१३।।

स्त्रीरत्नं गिरिजा सैषा रत्नं संसारवारिधेः ।
निरूढा गौणसारोपाऽन्या च सादृश्ययोगतः ॥१४॥

स्त्रीरत्नमिति। स्त्री रत्नमिव मणिरिवेत्युपमितसमासः। 'रत्नं श्रेष्ठे मणावपि' इति वैजयन्ती। इत्युपमितसमासे रत्नसदृशी स्त्रीति शाब्दबोधाच्छक्तिरेव, न लक्षणा। स्त्री एव रत्नं स्त्रीरत्नमिति मयूरव्यंसकादिसमासे तु लक्षणैव। यद्यपि 'रत्न श्रेष्ठे मणावपि' इति कोशात् सप्तमीतत्पुरुषोऽपि प्रतिभाति, तथापि समासात् पूर्वं श्रेष्ठवाचकत्वाभावेन स न भवति। तथोक्तमभिधानचिन्तामणौ—

स्युरुत्तरपदे व्याघ्रपुङ्गवर्षभकुञ्जराः।
सिहशार्दूलनागाद्यास्तल्लजश्च मतल्लिका॥
मचर्चिका प्रकाण्डाद्याः प्रशस्यार्थप्रकाशकाः। [१३४९,४१] इति।

'प्रशसावचनैश्च' [पा० अ० २।१।६६] इति सूत्रस्य मतल्लिकादिपञ्चकपरत्वाच्चोक्त एव समासो न्याय्य इति दिक्। वस्तुतस्तु स्त्रीरत्नमिति व्यस्तमेवोदाहरणम्, वैयाकरणमते वृत्तौ समुदायशक्तिमाश्रित्य लक्षणाऽनङ्गीकारात्। सैषेति सामान्यनिर्देशः। सादृश्यसम्बन्धाद् गौणी॥१४॥

'स्त्री रत्नं गिरिजा' वाक्य मे 'स्त्री रत्न' पद लक्षणा द्वारा स्त्रियो मे श्रेष्ठ अर्थ की लक्षणा द्वारा प्रतीति कराता है। यहाँ वाचक [विषय] पद 'गिरिजा' का प्रयोग होने से सारोपा-लक्षणा मानी जाती है। क्योकि यहाँ स्त्री और रत्न मे श्रेष्ठतारूप गुण की समानता है, अतः इसे गौणी भी कहा जाता है। प्रयोग परम्परा मे अति प्रसिद्धि के कारण यह लक्षणा निरूढा कही जा सकती है। इस प्रकार उपर्युक्त वाक्य मे गौणी-सारोपा-निरूढा-लक्षणा है। 'एषा रत्नं संसारवारिधेः' [यह संसाररूपी समुद्र की रत्न है] वाक्य मे रत्न' पद से 'स्त्रीरत्न' अर्थ की प्रतीति होती है। यहाँ विषय-वाचक 'स्त्रीपद' का प्रयोग न होने के कारण इसे साध्यवसाना गौणी-निरूढा-लक्षणा कहा जाएगा॥१४॥

मुक्तिः शिवस्य पूजैव हे मुक्ते मा जहीहि माम्।
फलिनी शुद्धसारोपाऽन्या च बीजफलत्वतः॥१५॥

मुक्तिरिति। मुक्तिः कारणमित्यर्थः। लक्षणाफलं तु मुख्यसाधनता-

प्रतीतिरादरातिशयप्रतीतिश्च । बीजं कारणं, फलं च कार्यं तत्सम्बन्धत्वात् ॥१५॥

मुक्तिः शिवस्य पूजैव' वाक्य मे शिव पूजा की कार्य [फल] मुक्ति है। अतः कार्य-कारण-भाव सम्बन्ध के कारण मुक्ति शब्द से पूजा अर्थ की लक्षणा द्वारा प्रतीति होकर एकवाक्यता होगी। यहाँ लक्षणा का प्रयोजन मुख्यसाधनताप्रतीति है। यहाँ प्रयोजनवती होने के कारण फलवती, कार्य-कारण-भाव सम्बन्ध युक्त होने के कारण शुद्धा, विषय और विषयी दोनो का प्रयोग होने के कारण सारोपा लक्षणा है। विषय का प्रयोग न होने पर 'मुक्ते मा जहीहि माम्' वाक्य मे प्रयोजनवती-शुद्धा-साध्यवसाना लक्षणा होगी ॥१५॥

शिवपूजा मम प्राणाः, हे प्राणाः विरताः स्थ मा।
फलिनी गौणसारोपा परा च सदृशत्वतः ॥१६॥

शिवपूजेति । अत्र लक्षणाफलं तु महिमातिशयप्रतीतिरादरातिशय-प्रतीतिश्च। विरताः विराम प्राप्ताः। मा स्थ मा भवत, चेतनं मे जीवितं स्याद् अन्यथा तु श्वसनं न जीवितमिति भावः। १६॥

'शिव पूजा मम प्राणाः' इत्यादि वाक्य मे प्राण शब्द से लक्षणा द्वारा शिवपूजा अर्थ की प्रतीति होती है। शिवपूजा को प्राण-पद से लक्षणा द्वारा कहने का प्रयोजन प्राणो के सदृश शिव-पूजा की महिमा और उसके प्रति अतिशय प्रीति की प्रतीति होती है। यहाँ शिव-पूजा और प्राण मे विद्यमान आदरणीयतारूप गुण-सम्बन्ध के कारण लक्षणा होती है, इसलिए इसे गौणी-लक्षणा कहा जाएगा। विषय शिव-पूजा और विषयी-प्राण दोनो का प्रयोग होने से यहाँ गौणी-सारोपा-लक्षणा है। 'हे प्राणाः विरताः मा स्थ' वाक्य मे शिव-पूजा के लिए 'प्राणाः' का प्रयोग हुआ है, किन्तु विषय-शिव-पूजा का ग्रहण नही किया गया है, अतः यहाँ साध्यवसाना-प्रयोजनवती गौणी लक्षणा मानी जाएगी। १६॥

सम्बन्धान्तरतो भेदाः स्वयमूह्याः परेऽपि च।
अक्षो रुद्राय रूढो हि गृहाः शम्भोश्च पार्वती ॥१७॥

तादर्थ्यादिह ताच्छब्द्यं तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यमित्यपि।
रुद्रस्य सेवका रुद्राः सेव्यसेवकभावतः ॥१८॥

सम्बन्धान्तरत इति । कार्यकारणभावादावित्यत्रादिशब्दात् सामान्यविशेषभावादिसम्बन्धविशेषनिमित्तका भेदाः स्वबुद्धया विविच्य विज्ञेया इत्यर्थः। दिङ मात्रं चोदाह्रियते—अक्ष इति। रुद्राय रुद्रसेवनाय हेतुहेतुमद्भावोऽत्र सम्बन्धः, रुद्रसेवनस्य तद्धारकपुरुषजन्यत्वात् । कार्यकारणभावादस्य भेदः। इन्द्रार्था स्थूणा इन्द्र इति प्रसिद्धोदाहरणेऽप्येवमेव। गृहा इति। अत्राधाराधेयभावः सम्बन्धः । पूर्वत्र तादर्थ्यात्ताच्छब्द्यम्, इह तु तात्स्थ्यात्तत्र स्थितत्वात्। रुद्रस्येति। सेवका याजका इत्यर्थः। 'नारुद्रो रुद्रमर्चयेत्' इति स्मृतेः ॥१७-१८॥

कार्य कारण भाव आदि सम्बन्धो के कारण होने वाली लक्षणा के उदाहरण स्वयं देख लेने चाहिए। फिर भी कुछ उदाहरण अग्रिम पंक्तियो में प्रस्तुत है—'अक्ष' शब्द से लक्षणा द्वारा रूद्र अर्थ की प्रतीति होती है। यहाँ 'अक्ष' और 'रुद्र' मे हेतु-हेतुमद्भाव सम्बन्ध है। क्योकि 'अक्ष' को धारण करने वाला व्यक्ति ही रुद्र का सेवन करता है। 'गृहाः शम्भोश्च पार्वती' वाक्य मे 'पार्वती' के लिए गृहा.' शब्द का प्रयोग किया गया है। यहाँ लक्षणा का हेतु आधाराधेय भाव सम्बन्ध है ॥१७॥

उपर्युक्त दोनो उदाहरणो मे से प्रथम मे तादर्थ्य सम्बन्ध के कारण लक्षणा का प्रयोग हुआ है, और द्वितीय वाक्य मे तात्स्थ्य [आधाराधेय भाव] सम्बन्ध के कारण लक्षणा का प्रयोग हुआ है। रुद्र के सेवक के लिए भी लक्षणा की सहायता से रुद्र शब्द का प्रयोग होता है, और वहाँ सेव्य-सेवक-भाव लक्षणा का मूल माना जाएगा ॥१८॥

आधाराधेयभावेन प्रसादो रुद्र इष्यते ।
तद्वाच्यवाचकत्वेन भवेल्लक्षितलक्षणा ॥१९॥

आधारेति । तस्य पूज्यत्वे, उपदेशादिति भावः । पूर्वत्र आधारवाचिलक्षकः, इह त्वाधेयवाचिलक्षक इति भेदः । तद्वाच्यवाचकत्व इति । तस्य द्व्यक्षरादेर्वाच्यो मांसादिशब्दः, स वाचको यस्य स तद्वाचक आमिषादिस्तस्य भावस्तत्त्व तेन । तथोक्तेन लक्षिते लक्षीकृते लक्षणा लक्षितलक्षणेत्यन्वर्थाभिधानेयम् ॥१९॥

शिव मन्दिर [प्रासाद] के लिए भी शिव [रुद्र] पद का प्रयोग होता है और वहाँ इस लाक्षणिक पद का हेतु आधाराधेय-भाव सम्बन्ध होता है। कभी कभी वाच्यवाचक भावसम्बन्ध के कारण भी वाचकगत वैशिष्ट्य का प्रयोग करते हुए लक्षितलक्षणा द्वारा अर्थ की प्रतीति कराई जाती हैं ॥१९॥

गुञ्जद्द्विरेफैः पुष्पौघैः पूज्यो भक्तैः शिवो यथा ।
द्व्यक्षरं मांसमित्यादौ निरूढेष्वेव नान्यतः ॥२०॥

एषा निरूढेष्वेव सभवतीति स्फुटयितु पुनरुदाहरति—गुञ्जद्द्विरेफैरिति । द्विरेफशब्दो हि योगरूढतया भ्रमरशब्दवाची । तस्य द्विरेफशब्दस्य षट्पदे लक्षितलक्षणा ॥२०॥

'गुञ्जद् द्विरेफैः पुष्पौघैः' वाक्य मे 'द्विरेफ' शब्द से भ्रमर शब्द की प्रतीति होकर भ्रमर अर्थ की प्रतीति होती है। इसीप्रकार द्व्यरक्षर आदि पदो से मॉस आदि अर्थ की प्रतीति होती है । यहाँ लक्षित लक्षणा मानी जाती है, यह लक्षणा निरूढा ही होती है, प्रयोजन वती नही ॥२०॥

विरुद्धा व्यतिरेके च लक्षणोक्ता मनीषिभिः ।
इस साधुकृतं तेन शम्भुर्येन न पूजितः ॥२१॥

विरुद्धेति । व्यतिरेके वैपरीत्ये साधुकृतं साधुशब्देन तद्विपरीते लक्षणा, व्यतिरेकलक्षणामपीमा वदन्ति । फलवती चेय न निरूढा ॥२१॥

'वैपरीत्य' सम्बन्ध के कारण विपरीत लक्षणा भी आचार्यगण स्वीकार करते है। यथा—'इह साधु कृतम् तेन शम्भुः येन न पूजितः' [जिसने शम्भु की पूजा नही की उसने अच्छा किया.] वाक्य मे विपरीत लक्षणा से साधु पद द्वारा असाधु [अनुचित] अर्थ की प्रतीति होती है ॥॥२१॥

सम्बन्धबुद्धिजनकः सम्बन्धो विविधो मतः ।
शब्दप्रमाणगा वृत्तिर्लक्षणा तन्निबन्धना ॥२२॥

सम्बन्धं लक्षयति—सम्बन्धेति । 'इमौ सम्बद्धौ' बुद्धेर्हेतुः सम्बन्ध इति लक्षणं शब्दरूप यत्प्रमाणं प्रमाणकरणम्, करणे च व्यापारावश्यंभावात्तद्गत्ता वृत्तिर्लक्षणा सम्बन्धमूलैव न तु सम्बन्ध एव लक्षणेति भावः ॥२२॥

वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ के बीच सम्बन्धबुद्धि को उत्पन्न करने वाला सम्बन्ध अनेक प्रकार का होता है। इस सम्बन्ध के आधार पर ही लक्षणा व्यापार प्रवृत्त होता है और उस व्यापार से लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है। अतः सम्बन्ध को लक्षणा न मानकर उस सम्बन्ध को हेतु मानकर शब्द मे लक्षणा व्यापार माना जाता है ॥२२॥

स नित्यः समवायाख्यः सहजोऽवयवादिषु ।
गुणः क्रिया च सामान्यं विशेषोऽवयवादयः ॥२३॥

स इति । अवयवादिष्वयुतसिद्धेषु । तल्लक्षणं चोक्तं तर्कशास्त्रे—

तावेवायुतसिद्धौ द्वौ विज्ञातव्यौ ययोर्द्वयोः ।
अनश्यद् एकमपराश्रितमेवावतिष्ठते ॥इति ।

अन्यच्च अवयवावयविनोर्गुणगुणिनो क्रियाक्रियावतोर्जातिव्यक्त्योर्यः सम्बन्ध सः समवाय इति । गुण इति । अवयवादय. पञ्च तद्गत्सु समवाय-सम्बन्धेन लाक्षणिका इत्यर्थः । २३॥

यह लक्षणा-व्यापार शब्द मे उसी प्रकार समवाय सम्बन्ध से नित्य रहता है, जिस प्रकार अवयव मे अवयवी रहता है, अथवा द्रव्य मे गुण, क्रिया,

सामान्य (जाति) अथवा विशेष रहा करते है। जिन शब्दो मे समवाय सम्बन्व से लक्षणा विद्यमान प्रतीत होती है, उन शब्दो को लाक्षणिक शब्द कहा जाता है। अथवा लक्षणा के मूल मे जिन सम्बन्धो की चर्चा की गई है, उन सम्बन्धो मे से समवाय सम्बन्ध नित्य सम्बन्ध है। यह अवयव अवयवी गुण और द्रव्य क्रिया और द्रव्य सामान्य [जाति] और जातिमान् तथा विशेष और विशिष्ट [नित्यद्रव्यो] मे रहा करता है ।।२३।।

संयोगो युक्तधीहेतुर्द्रव्ययोः क्रियया कृतः।
विशिष्टबुद्धिजनकः स्वस्वामित्वादिकोऽपरः ।।२४।।

सयोग इति। 'इमौ संयुक्तौ' इति बुद्धेर्हेतुर्गुण., स द्रव्ययोरेव नान्येषाम्, क्रियया कृतो न तु स्वाभाविकः। विशिष्ट इति। अयमनेन विशिष्ट इति बुद्धिजनकः, अपरोऽन्यः ।।२४।।

सयोग सम्बन्ध क्रिया द्वारा उत्पन्न वह सम्बन्ध है, जिसके कारण दो द्रव्य मिले हुए है, इस प्रकार का बोध होता है। 'स्वस्वामि-भाव-सम्बन्ध' भी 'स्व' [सेवक] मे स्वामी के सम्बन्ध से विशिष्ट बुद्धि को उत्पन्न करने वाला सम्बन्ध है ।।२४।।

व्यतिरेकोऽपि सम्बन्धो विपरीतमतिप्रदः।
सादृश्यमपि सम्बन्धस्तथा तद्वाच्यवाच्यता ।।२५।।

व्यतिरेकोऽपीति। असौ विरुद्धयोरेव। सादृश्यमिति। अय तुल्ययोरेव। तद्वाच्येति। तस्य प्रकृतस्य वाच्यः शब्दविशेषस्तस्य वाच्यताऽभिधेयता। अयं पूर्वोक्तप्रकारान्नातिरिच्यते, समासमात्रभेदेऽप्यर्थभेदाभावात् ।।२५।।

व्यतिरेक सम्वन्व वह सम्बन्ध है, जिससे दो अर्थों मे विपरीत [विरुद्ध] बुद्धि उत्पन्न होती है। दो तुल्य वस्तुओ मे रहने वाला सम्बन्ध सादृश्य सम्बन्ध कहलाता है। किसी वस्तु के वाचक शब्द और वाच्य वस्तु मे वाच्य-वाचक-भाव सम्बन्ध रहा करता है ।।२५।।

एतेषां लक्षणीयेऽर्थे सम्भवस्तर्क्यतां स्वयम् ।
मुख्यस्यार्थस्य यद्धेतोर्लक्षणां शब्दमाश्रयेत् ॥२६॥

एतेषामिति । उक्तसम्बन्धाना संभवः स्वय तर्क्यताम् औचित्येन विभाव्यतामित्यर्थ । यद्धेतोर्यस्मात् सम्बन्धाद्धेतोः ॥२६॥

मुख्य अर्थ से लक्ष्य अर्थ के बीच इस प्रकार के विविध सबन्धो की कल्पना स्वय कर लेनी चाहिए। जिनकी सहायता से शब्द लक्षणा व्यापार का आश्रयण करता है ।।२६।।

सारोपायां गुणाः लक्ष्या विषयिणो न तच्छ्रुतेः ।
एवं साध्यवसानायां गुणी लक्ष्यो गुणान्वितः ॥२७॥

सारोपाया साध्यवसानायाश्च विशेषमाह—सारोपायमिति । मुखं चन्द्र इत्यादौ गुणा आह्लादकत्वादयो न तु विषयिणः शीतलकिरणमृगाङ्कत्वादयः, तद्वाचकपदश्रवणात् । साध्यवसानायाश्च चन्द्रोऽयमित्यादौ तु गुणैः सहितो विषयो लक्ष्यः, तद्वाचकपदस्याश्रवणात् ॥२७॥

सारोपा लक्षणा मे 'मुखं चन्द्र' इत्यादि उदाहरणो मे लक्षणा द्वारा गुणो की प्रतीति होती है। 'चन्द्र' वाचक पद का प्रयोग होने के कारण चन्द्रमा की प्रतीति होती हो, ऐसी बात नही। जब कि साध्यवसाना लक्षणा मे गुणों के साथ साथ गुणविशिष्ट गुणी की भी लक्षणा द्वारा प्रतीति होनी है ।।२७।।

सारोपायां तु भेदेन गुणा लक्ष्या द्वयोरपि ।
अन्यस्यां गुणिभेदेन गुणा एवाभिदाजुषः ॥२८॥

सारोपायामिति । मुख चन्द्र इत्यादौ आह्लादकत्वादोऽभेदेन लक्ष्याः, अभेदस्य विवक्षाधीनत्वात् चन्द्रोऽयमित्यादौ तु विषयस्यापि गुणैः सहितस्याभेदेन लक्षणीयत्व बोध्यम्, अन्यथा विरम्य लक्षणाया अप्रवृत्तेरिति भावः ॥२८॥

सारोपा-लक्षणा मे क्योकि विषय और विषयी की पृथक्-पृथक् प्रतीति होती है, अतः दोनो के गुणो की 'सदृश गुणो' की लक्षणा द्वारा प्रतीति होती है। जबकि साध्यवसाना मे विषय और विषयी मे भेद प्रतीति न होने के कारण गुणो से अभिन्न गुणी की प्रतीति होती है ॥२८॥

रूपकादिषु सारोपा यत्र शब्दावुभावपि ।
रूपकातिशयोक्त्यादौ पराऽऽरोप्यपदश्रुतेः ॥२६॥

अनयोर्विषयविभागमाह—रूपकेति । आदिशब्दान्निदर्शनादयो गृह्यन्ते । रूपकेति । आदिशब्दादप्रस्तुतप्रशंसादयो गृह्यन्ते । आरोपपदस्य विषयिवाचकमात्रस्य श्रवणमित्यपरा साध्यवसाना ॥२९॥

रूपक आदि अलकारो मे सारोपा लक्षणा कही जा सकती है, जहाँ विषय और विषयी दोनो के वाचक शब्दो का प्रयोग होता है। इसके विपरीत रूपकातिशयोक्ति आदि मे केवल विषयी-वाचक पद का ही प्रयोग होता है, अतः वहा साध्यवसाना लक्षणा की स्थिति मानी जा सकती है ॥२९॥

सादृश्यश्लथताभावः सारोपायाः फल मतम् ।
सादृश्यातिशयोऽन्यस्या विषयस्तुतिहेतवे ॥३०॥

सादृश्येति । फलवत्याः सारोपायाः सादृश्यश्लथताया अभावः फल व्यङ्ग्यार्थरूप प्रयोजनम् । अन्यस्यास्तु विषयस्तुतिहेतवे विषयगुणप्रशसार्थमित्यर्थः । विषयगुणानामपकृष्टत्वं विषयिगुणाना चोत्कृष्टत्वमित्यालङ्कारिकसिद्धान्तः । अभेदारोपे चापकृष्टानामप्युत्कृष्टत्वमथसिद्धमिति । तत्र बीजं तु लक्षणाव्यङ्ग्यः सादृश्यातिशय इति भावः । सादृश्य ह्यदृढमुपमादिषु, दृढ च रूपकादिषु, दृढतरमतिशयोक्त्यादिषु । यत्र च विषयस्याल्पा प्रशसा तत्र दृढम् यत्राधिका सा तत्र दृढतरमिति विवेकः ॥३०॥

सारोपा-लक्षणा मे जहाँ विषय और विषयी दोनो का प्रयोग होता है, अभेद प्रतीति के फलस्वरूप सादृश्य प्रतीति मे शिथिलता के अभाव का बोध

होता है और यही सारोपा-लक्षणा की देन है। साध्यवसाना लक्षणा मे विषय के उत्कर्ष की प्रतीति के लिए सादृश्यातिशय का बोध होता है और यह साध्यवसाना लक्षण का फल है। इस प्रकार उपमा आदि मे सादृश्य अदृढ होता है, रूपक आदि मे दृढ और अतिशयोक्ति आदि मे दृढतर।

ताद्रूप्याभेदयोराहुः फलत्वमुभयोः क्रमात्।
तत्तु शब्दान्तराल्लाभाद्विरोधाच्च न मन्यताम् ॥३१॥

ताद्रूप्येति। अत्र केचित्—ताद्रूप्यप्रतीतिः सारोपाया अभेदप्रतीतिश्च साध्यवसानायाः फलमिति विभिन्नमाहुः। तत्तु न मन्तव्यम् 'साध्वीयमपरा लक्ष्मीः' इत्यादावपरादिशब्दस्य ताद्रूप्यप्रत्यायकत्वात्, 'अय हि धुर्जटिः साक्षात्' इत्यादौ साक्षाच्छब्दादेरभेदप्रत्यायकत्वाच्चेति भावः। किञ्चाभेदरूपके च सारोपाया फलद्वयस्यापि सम्भवात्, द्विविधातिशयोक्तौ च साध्यवसानाया तथैव सम्भवाच्च, प्रत्येक फलत्वकल्पनायोगादिति भावः ॥३१॥

कुछ आचार्य सारोपा लक्षणा का फल ताद्रूप्य प्रतीति और साध्यवसानालक्षणा का फल अभेद प्रतीति मानते है, किन्तु वह उचित नही है। क्योकि 'साध्वीयम् अपरा लक्ष्मीः' इत्यादि सारोपा स्थलों मे अपरा आदि पद ताद्रूप्य की प्रतीति के लिए, तथा 'अय ही धुर्जटिः साक्षात्' इत्यादि साध्यवसाना स्थलो मे साक्षात् इत्यादि पद अभेद के प्रत्यायक निबद्ध है। उक्त फल मानने पर इन पदो के प्रयोग से विरोध उपस्थित होगा ॥३१॥

सर्वनामविशिष्टस्य निर्देशे प्रथमा मता।
अविशिष्टस्य निर्देशे परेति कवयो विदुः ॥३२॥

इति श्रीपदवाक्यप्रमाणपारावारीणधुरीणरामजिभट्टविरचिते
कोविदानन्दे भक्तिनिर्णये द्वितीयः परिच्छेदः॥

सर्वनामेति। 'इदं चन्द्रः इत्यादौ मुखत्वादिविशेषविशिष्टवस्तुपरेण इदशब्दादिना निर्देशे सारोपा। अय चन्द्र इत्यादौ मुखत्वादिविशेषपरिहारेण

सामान्यरूपेणारोप्यमाणचन्द्राद्यभेदेन निर्देशे साध्यवसाना इति भेदः। अत्र जहत्यादिविचारस्तु विस्तरभयान्न कृतः ॥३२॥

इति श्रीपदवाक्यप्रमाणज्ञरामजिभट्टात्मजाशाधरभट्टविरचितायां कादम्बिनीसमाख्यायां स्वकृतकोविदानन्दव्याख्याया लक्षणापरिच्छेदो द्वितीयः ॥

'इद' आदि सर्वनाम विशिष्ट 'इदं चन्द्रः' इत्यादि वाक्यो मे सारोपा-लक्षणा मानी जाती है। क्योकि यहाँ 'इद' आदि पदो द्वारा आरोप विषय का निर्देश होता है। इसके विपरीत 'अय चन्द्रः' इत्यादि स्थलो मे जहाँ 'अदस्' शब्द 'चन्द्र' के विशेषण के रूप मे प्रयुक्त हो रहा है, वहाँ सर्वनाम पद से आरोप-विषय का बोध न होने के कारण साध्यवसाना-लक्षणा मानी जाती है, सारोपा नही ॥३२॥

व्याकरण, मीमासा न्याय शास्त्र एवं योग के पारंगत विद्वान् पं० रविनाथ अवस्थी के पुत्र महामहोपाध्याय डा० ब्रह्ममित्र अवस्थी विरचित कोविदानन्द दीपिका मे भक्तिनिर्णय नामक द्वितीय परिच्छेद पूर्ण हुआ।

अथ व्यञ्जनानिरूपणम्

संकेतशक्यसम्बन्धविभिन्नसहकारिणी ।
वाच्यलक्ष्यातिरिक्तार्थधीहेतुर्वृत्तिरञ्जना ॥१॥

व्यञ्जनायाः लक्षणमाह—संकेतेति । संकेतशक्यसम्बन्धाभ्यामभिधा-लक्षणसहकारिभ्या विभिन्ना अतिरिक्ता वक्ष्यमाणरूपाः सहकारिणो यस्याः सा । किञ्च, वाच्यलक्ष्याभ्या शक्तिभक्तिप्रतिपाद्याभ्यामतिरिक्तस्य व्यङ्ग्यार्थस्य हेतुः बोधकारणम् अञ्जना व्यञ्जना ॥१॥

संकेत शक्ति अर्थात् अभिधा एवं सम्बन्ध अर्थात् लक्षणा वृत्ति से भिन्न अर्थबोध मे सहकारिणीवृत्ति अजना अथवा व्यंजना कही जाती है। इसके द्वारा प्रतीत होने वाला अर्थ वाच्य एव लक्ष्य अर्थ से भिन्न व्यग्य अर्थ कहा जाता है ॥१॥

अस्त्रमन्त्रितबाणस्य वृत्तिवद् विविधार्थकृत् ।
एषा शब्दगतैवार्थानाश्रित्यापि प्रवर्तते ॥२॥

वृत्तिद्वयाद्विलक्षणमाह—अस्त्रेति । अस्त्रेण वायव्यादिना मन्त्रितस्य कृताभिमन्त्रस्य बाणस्य वृत्तिवद् विविधार्थकृद् अनेकार्थबोधनपटुः, युगपदिति शेषः । एषा व्यञ्जना शब्दगतेव, किन्त्वर्थान् वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यानाश्रित्या-पीत्यर्थः ॥२॥

जिस प्रकार वायव्यास्त्र आदि मन्त्रो से अभिमंत्रित बाण विविध प्रयोजन सिद्ध करते है, उसी प्रकार अंजना वृत्ति से युक्त शब्द भी अनेक अर्थों का बोध कराते है। यह वृत्ति भी शब्दगत वृत्ति है। कभी-कभी यह अर्थों का आश्रयण करके भी प्रवृत्त होती है ॥२॥

अस्याः कारणतां शब्दा भजन्त्यर्थास्तथोभये ।
वक्तृवाक्यादिवैशिष्ट्यं सहकारिनिरूपितम् ॥३॥

अस्या इति । कारणता मूलताम् तेनैषा त्रिविधेत्यर्थः ॥३॥

व्यञ्जना वृत्ति के कारण कभी शब्द होते है, कभी अर्थ और कभी शब्द और अर्थ दोनो। वक्तृवैशिष्ट्य, वाक्यवैशिष्ट्य, बोधव्य वैशिष्ट्य [श्रोतृ वैशिष्ट्य] आदि व्यञ्जना के सहकारी कारण है ॥३॥

वर्णं पदं तदंशं च वाक्यबन्धं च संश्रिता ।
प्राधान्याद् व्यञ्जनावृत्तिः शब्दधर्मोऽर्थगापि सा ॥४॥

शब्दशक्तिमूलाया भेदानाह—वर्णमिति । तदशं प्रकृतिप्रत्ययादिक बन्ध वृत्तादिकम् ॥४॥

शाब्दी व्यञ्जना कही वर्ण मे, कही पद मे, कही पदांश मे और कही वाक्यार्थ मे प्रधानरूप से आश्रित रहती है। मुख्यतः यह शब्द का धर्म है। और आर्थी व्यञ्जना— ॥४।

देशकालप्रकरणवक्तृवाक्याभिधेयकाः ।
सान्निध्यकाकुबोद्धव्या व्यञ्जनासहकारिणः ॥५॥

अर्थशक्तिमूलायाः सहायानाह–देशेति । काकुः स्त्रिया विकारोयः शोकभीत्यादिभिर्ध्वने' इत्यमर. ॥५॥

[आर्थी व्यजना] देश काल, प्रकरण, वक्ता, वाक्य, श्रोता, सानिध्य और काकु इत्यादिकी सहायता से प्रगट होती है ॥५॥

पञ्चाननो विजयते हिमवद्भूविहारकृत् ।
अत्र व्यञ्जनयान्योऽर्थस्तत्साम्यं वा प्रतीयते ॥६॥

क्रमेणोदाहरति—पञ्चानन इति । हिमवद्भूविहारकृत्=हिमवद्भूः

पार्वती हिमालयभूमिश्च, तत्र विहारकृत् पञ्चाननः, 'हर्यक्षः केसरी भारिः पञ्चास्यो नखरायुधः' [१२८४ श्लोक]। इति हैमः। शिवः सिंहश्च, पञ्चं विस्तीर्णमाननं यस्येति व्युत्पत्तेः। अत्र शिवस्य प्रकृतत्वाद् अप्रकृतसिंहपक्षो व्यङ्ग्यः, प्रकृताप्रकृतयोः साम्य वा व्यङ्ग्यम्। अत्र श्लिष्टशब्दयोः परिवृत्य-सहत्वाच्छब्दशक्तिमूलत्वम् ॥६॥

हिमवद्भूविहारकृत् पञ्चाननः विजयते' वाक्य मे प्रकरणगत शिव विषयक अर्थ प्रतीत होने के अनन्तर सिंहविषयक अर्थ और प्रकृति से उसके सादृश्य की प्रतीति व्यंजना के द्वारा होती है। इस वाक्य मे श्लिष्ट शब्दो का परिवर्तन होने पर व्यजना की संभावना न होने के कारण इसे शब्द-शक्ति-मूला व्यजना कहा जाएगा ॥६॥

भाति भूतिकृतच्छायः प्रभुः सर्वप्रियङ्करः।
इतरोऽप्यत्र वाक्यार्थः शब्दार्थव्यक्तिकल्पितः ॥७॥

सूचीकटाहन्यायेनादावुभयशक्तिमूलामुदाहरति—भातीति। भूति-कृतच्छायः भस्मकृतशोभः समृद्धिकृतताया भावश्च, सर्वप्रियङ्करस्त्रैलोक्यप्रिय-कर्ता जनपदप्रियकर्ता च प्रभुः शिवो राजा च भातीत्यन्वयः। अनाद्यपदस्य परिवृत्त्यसहत्वाद् द्वितीयतृतीययोः परिवृत्तिसहत्वाच्चोभयशक्तिमूलत्वमिति बोध्यम्। शेषं पूर्ववत् ॥७॥

'भाति भूतिकृतच्छायः प्रभुः सर्वप्रियङ्करः' वाक्य में प्रकरणगत राजा-विषयक अर्थ की अभिधा द्वारा प्रतीति होने के अनन्तर शिवविषयक अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति तथा प्राकरणिक अर्थ से साम्य की प्रतीति व्यजना द्वारा होती है। इस वाक्य मे 'भूति' पद को परिवर्तित, करने से सम्पत्ति और भस्म अर्थ की प्रतीति नही हो सकती, तथा 'छायः' और 'सर्व' शब्द का परिवर्तन करने पर भी व्यंग्यार्थ प्रतीति मे बाधा नही होती, अतः यहाँ शब्द-शक्ति-मूला और अर्थ-शक्ति-मूला अर्थात् उभय-शक्तिमूला व्यंजना मानी जाएगी ॥७॥

शिवप्रसादशिखरे सानन्दान् पश्य पक्षिणः ।
अत्र देशविविक्तत्वमर्थादेव प्रतीयते ॥८॥

शिवेति । अत्र पक्षिणा सानन्दत्वात् त्रासाभावो गम्यते, तेन च जनसञ्चाराभावप्रतीतिः, ततश्च पूजोपयोग्यस्थलमिति गम्यते, ततो गन्तव्यमिति ॥८॥

'शिवप्रसादशिखरे सानन्दान् पश्य पक्षिणः' [शिवालय के शिखर पर सानन्द बैठे हुए पक्षियो को देखो] वाक्य मे पक्षियो के सानन्द होने के कारण उनमे भय के अभाव की तथा उसके कारण के रूप मे जन-संचार के अभाव की प्रतीति होती है, फलतः यह एकात-पूजा और साधना का स्थल है।' इस अर्थ की प्रतीति अर्थ के द्वारा होती है, अतः यहाँ आर्थी व्यजना मानी जायेगी ॥८॥

रेवावारीशलिङ्गानि पुष्पिता यत्र पादपाः ।
धन्यः स देश इत्यत्र पूजौत्सुक्यं प्रतीयते ॥९॥

रेवेति । देशस्य धन्यत्वाभिधानात् पूजोपयोगिवस्तुगणनेन पूजाभिलाषित्वं व्यज्यते शिवभक्तिश्चेति ॥९॥

'रेवावारीशलिङ्गानि पुष्पिताः यत्र पादपाः धन्यः स देश' [रेवा नदी का जल शिवलिङ्ग और पुष्पित वृक्ष जिस देश मे है, वह देश धन्य है ।] इस वाक्य मे देश को धन्य कहने के कारण और पूजा की उपयोगी वस्तुओ के परिगणन के कारण पूजा का अभिलाषी होने और उससे शिवके प्रति भक्ति की व्यंजना द्वारा प्रतीति होती है। यहां व्यंजना देश-वैशिट्य का सहायता से प्रगट होती है ॥९॥

माघाद् बिभ्यतु माघोऽयं यत्र रात्रिः शिवप्रिया ।
अत्र कालस्य वैशिष्ट्याद् व्रते भक्तिः प्रतीयते ॥१०॥

देशवैशिष्ट्यमुक्त्वा कालवैशिष्ट्यमुदाहरति—माघादिति । अघात्तापाद्

मा बिभ्यतु इत्युक्ते व्रतमहिमातिशयो व्यज्यते, तेन च व्रते भक्तिः, ततश्च शिवे भक्तिरिति कालस्य वैशिष्ट्यादिसाधारण्यादित्यर्थः ॥१०॥

'माघाद् बिभ्यतु माघोऽयं यत्र रात्रिः शिवप्रिया' यह माघ मास है, जिसमे शिव-रात्रि है, अतः अघ अर्थात् ताप से मत डरो] वाक्य मे शिव व्रत की अतिशय महिमा की प्रतीति व्यंजना द्वारा होती है, तथा उससे व्रत मे भक्ति और शिव मे भक्ति की व्यञ्जना होती है। इस उदाहरण में व्यंग्यार्थ की प्रतीति, काल [समय] की सहायता से हाती है ॥१०॥

शीघ्रमाहर वन्यानि पुष्पादीनि निशामुखे ।
शिवप्रियत्वं वन्येषु प्रस्तावादवगम्यते ॥११॥

शीघ्रमिति। प्रस्तावात् प्रकरणात्, श्रोतृवक्तृबुद्धिस्थ प्रकरणम्,

वन्येषु यादृशी प्रीतिर्वर्तते परमेशितुः।
उत्तमेष्वपि नास्त्येव ग्रामजेषु तु तादृशी ॥

इति शिवगीतोक्तेरिति भावः ॥११॥

'शीघ्रमाहर वन्यानि पुष्पादीनि निशामुखे' [प्रदोष-काल मे ही शीघ्र वन्य-पुष्प-फल आदि का चयन कर लो।] वाक्य मे प्रकरण की सहायना से वन्य पुष्प आदि के प्रति शिव के प्रेम की प्रतीति होती है ॥११॥

पुष्पैररण्यसम्भूतैः पत्रैर्वा गिरि सम्भवैः ॥
अपर्युषित-निश्छिद्रैः प्रोक्षितैर्जन्तुवर्जितैः।
आत्मारामोद्भवैर्वापि भक्त्या सम्पूजयेच्छिवम्॥१७॥ (शिवधर्म)

वाटिकायां जनान् दूरान् कुरुतेत्याह शाम्भवः ।
विविक्तप्रियता तस्य वैशिष्ट्येन प्रतीयते ॥१२॥

वाटिकायामिति । अत्र वक्तु. शाम्भवस्य वैशिष्ट्यात् शिवपूजार्थं विविक्तरुचिः प्रतीयते ॥१२॥

'वाटिकाया जनान् दूरान् कुरुत' [बगीचे से लोगो को दूर कर दो]

शिव-भक्त के इस वाक्य से उसकी एकातप्रियता का बोध व्यंजना द्वारा होता है। यह प्रतीति बक्तृवैशिष्ट्य के कारण हो रही है ॥१२॥

शिवं पूजयताजस्रं जुषध्वं सुखमीप्सितम्।
कार्यकारणभावोऽत्र वाक्यवैशिष्ट्यबोधितः ॥१३॥

शिवमिति । अत्र हि तिङन्तवाक्यद्वयवैशिष्ट्यात् सुखे शिवपूजाजन्यत्वं व्यज्यते ॥१३॥

'शिव पूजयत अजस्रम् ईप्सित सुखं जुषध्वं'-[शिव की पूजा करो और शाश्वत अभीष्ट सुख प्राप्त करो] इस वाक्य मे कार्य-कारणभावविशिष्ट-वाक्यवैशिष्ट्य के कारण सुख शिव-पूजा से प्राप्त हो सकता है, इस अर्थ की व्यंजना द्वारा प्रतीति होती है ॥१३॥

शैवानां चेत् पुनर्जन्म सा हानिर्गिरिजापतेः।
अभिधेयस्य वैशिष्ट्याद् भाति कैवल्यदातृता ॥१४॥

शैवानामिति। केवलस्याद्वितीयस्य भावः कैवल्य निःश्रेयसम्, तद्दातृत्वं पशुपाशमोचकत्वमित्यर्थः ॥१४॥

'शैवाना चेत् पुनर्जन्म सा हानिर्गिरिजापते' [यदि शैव लोगो का भी पुनर्जन्म हो तो इसमे शिव की हानि है।] इस वाक्य द्वारा वाक्य वैशिष्ट्य के कारण शिव भक्ति कैवल्य अर्थात् मोक्ष प्रदान करती है, इस अर्थ की व्यञ्जना द्वारा प्रतीति होती है ॥१४॥

एकाकिना मया काशी गन्तुं शक्या कथं द्विजाः।
तदियं सहकारेच्छा सन्निधेरत्र गम्यते ॥१५॥

एकाकिनेति। सन्निधेर्जिगमिषूणां सहकारेच्छा ॥१५॥

'एकाकिना मया काशी गन्तुं शक्या कथं द्विजाः' [हे ब्राह्मण लोगो! मैं काशी कैसे अकेले जा सकता हूँ] इस वाक्य मे साथ जाने की इच्छा वाले

भक्त जनो की सन्निधि के कारण सहकार की इच्छा व्यञ्जना द्वारा प्रगट होती है ॥१५॥

संसारकूपपतनं शम्भुभक्तस्य किं भवेत् ।
अत्र काकुप्रभावेण व्यज्यते मुक्तिदातृता ॥१६॥

संसारेति । अत्र किंशब्दे काकुर्बोध्या ॥१६॥

'संसारकूप पतनं शम्भुभक्तस्य कि भवेत्' [क्या शिवभक्त भी ससार-कूप मे गिर सकता है ?] इस वाक्य मे किम् शब्द द्वारा प्रगट काकु की सहायता से शिव मोक्षदायक है, इस अर्थ की व्यञ्जना द्वारा प्रतीति होती है ॥१६॥

मुमुक्षो भज भूतेशं संसारे मा मनः कुरु ।
मुक्तिदातृत्वमत्रापि भाति बोद्धव्यपाटवात् ॥१७॥

मुमुक्षो इति । बोद्धव्यपाटवात् संबोध्यवैशिष्ट्यादित्यर्थः ॥१७॥

'मुमुक्षो भज भूतेशं ससारे मा मनः कुरु' [हे मुमुक्षु भूतेश शिव की उपासना करो, ससार मे मन मत लगाओ] इस वाक्य मे बोद्धव्य अर्थात् श्रोता के वैशिष्ट्य के कारण शिव मोक्ष दायक हैं, इस अर्थ की प्रतीति व्यञ्जना द्वारा होती है ॥१७॥

वाच्यमूला व्यञ्जनैषा लक्ष्यगा[1] प्राक् प्रदर्शिता ।
उदाहृतेषु दूरार्थभाने व्यङ्ग्यगताप्यसौ ॥१८॥

वाच्यमूलेति । एषा उक्तप्रकारा व्यञ्जना वाच्यार्थमूला लक्ष्यगा लक्षणीयार्थगता प्रोक्तलक्षणानिरूपणे प्रदर्शिता लक्षणा प्रयोजनमस्य तदेकगम्य-त्वादिति भावः । उदाहृतेषु वाक्येषु दूरतोऽर्थभाने सति एकस्मादर्थादर्थान्तरं ततोऽप्यर्थान्तरमेवंविधे भाने सतीत्यर्थः । व्यङ्ग्यगता व्यङ्ग्यमूलाऽप्यसौ व्यञ्जना वेदितव्या ॥१८॥

उपर्युक्त उदाहरणो मे वाच्यार्थमूला व्यजना का प्रदर्शन किया गया

---

१. 'लक्षणा' इति मु० पु० पाठ ।

है। लक्षणामूला की चर्चा पहले हो चुकी है। इन्ही उदाहरणो मे जहाँ एक व्यंग्यार्थ की प्रतीति के बाद अन्य व्यंग्य अर्थों की प्रतीति होती है, वहाँ व्यंग्यार्थ मूला व्यंजना भी है ।।१८।।

त्रिविधा वृत्तिरेकैव वैलक्षण्येऽपि वस्तुतः।
इत्याहुः शाब्दिकास्तेषां भिन्नत्वे गौरवाद्भयम् ।।१९।।

त्रिविधेति। वैलक्षण्येऽपि परस्परविलक्षणत्वेऽपीत्यर्थः । भिन्नत्वेऽनेक वृत्तिस्वीकारे ।।१९।।

इस प्रकार वृत्तियाँ तीन है—इनमे वास्तविकरूप से परस्पर विलक्षणता होते हुए भी वृत्ति एक है, ऐसा शब्द-शास्त्र के कुछ आचार्य स्वीकार करते है, उनका कहना है कि तीन शब्द-व्यापार मानने पर गौरव-दोष होता है। अतएव एक ही अभिधा व्यापार के तीन प्रकार स्वीकार करने चाहिए। [उदाहरणार्थ-मुकुलभट्ट एक ही अभिधा व्यापार के मुख्य और लाक्षणिक दो भेद स्वीकार करते है। 'शब्दस्य च मुख्येन लाक्षणिकेन वाभिधा-व्यापारेणार्थावगतिहेतुत्वमिति।' अभिधावृत्तमातृका पृ० १] ।।१९।।

नित्यं निवासनिरतौ गङ्गायां झषतापसौ।
हिंसकाहिंसकौ दृष्टौ प्रकृतिर्हि बलीयसी ।।२०।।

तस्योदाहरणमाह—नित्यमिति। अत्र गङ्गापदेन प्रवाहतीरयोर्युगपदुपस्थित्या न वृत्तिभेद इति भावः। २०।।

मछली और तपस्वी नित्यरूप से गङ्गा मे निवास करते है, किन्तु उनमे से एक हिसक है और दूसरा अहिसक। वस्तुतः स्वभाव बलवान् है, यहाँ गङ्गापद से एक साथ प्रवाह और तीर का बोध होने से वृति भेद मानना उचित नही है ।।२०।।

गङ्गायां वासिनौ नित्यं बैसारिणमहाद्रुमौ।
न विमुक्तौ जडतया प्रकृतिर्हि सुधीत्वदा ।।२१।।

गङ्गायामिति । वैसारिणो मत्स्यः

मत्स्यो मीनः पृथुरोमा झषो वैसारिणोण्डजः ।

सङ्घचारी स्थिरजिह्व आत्माशी स्वकुलक्षयः ॥ [१३४३ श्लो०]

इति हैमः । जडतया शीतलया च प्रकृतिरेव सुधीत्वदा सङ्गतिस्तु न तथेति भावः । अत्रापि गङ्गाशब्दः पूर्ववत् ॥२१॥

इसी प्रकार गङ्गा मे नित्य निवास करने वाले महामत्स्य और महा वृक्ष जड होने के कारण मुक्ति नही प्राप्त कर पाते, क्योकि 'सुधीत्व' (तत्त्वज्ञता) अपने स्वभाव के अनुसार ही प्राप्त होती है । यहाँ भी एक साथ गङ्गापद से प्रवाह और तट का भेद होने से वृत्ति भेद नही मानना चाहिये ॥२१॥

अत्र स्रोतसि तीरे च पावनत्वे च वर्तते ।
शक्तिभक्तिव्यक्तियोगाद् गङ्गाशब्दः सहैव यत् ॥२२॥

अत्रेति । शक्तियोगात् स्रोतसि भक्तियोगात्तीरे व्यक्तियोगात् पावनत्वे चेत्यर्थः ॥२२॥

उपर्युक्त उदाहरण मे गंगा शब्द से प्रवाह तीर और पावनत्व तीनो की एक साथ ही प्रतीति हो सकती है । अभिधा से गगा पद प्रवाह का वाचक है, भक्ति अर्थात् लक्षणा से तीर का बोधक है, और व्यक्ति अर्थात् व्यंजना से पावनत्व का ॥२२॥

अत्र तन्त्रेण वाऽऽवृत्त्या सहानेकार्थबोधकः ।
गङ्गाशब्दस्ततो वृत्तेरभेदो नैव सिद्ध्यति ॥२३॥

अत्रेति । सकृदुच्चरितमनेकार्थोपकारकं तन्त्रमिति तन्त्रावृत्त्योर्युगदनेकार्थबोधकत्वेन वैयाकरणैः स्वीकृतत्वादिति भावः । ततो वृत्तेरभेदो नैव सिद्ध्यति । भेदस्तु व्यक्त एवेति भावः ॥२३॥

एक बार उच्चरित शब्द [तन्त्र] से अथवा आवृत्ति के द्वारा गगा पद अनेक अर्थ का बोध कराता है । दोनो ही स्थिति मे एक ही शब्द

व्यापार सिद्ध नही होता। अर्थात् एक शब्द-व्यापार से अनेक अर्थ की प्रतीति मे संगति नही रहती।

इत्याहुरपरे भिन्ना भेदक्लृप्तौ हि गौरवम्।
व्यवहारात् कार्यतश्च भेदो हि दुरपह्नवः ॥२४॥

इतीति। इति उक्तप्रकारेण, अपरे आलङ्कारिका आहुः, हि यस्माद् भिन्नायास्तस्या अभेदकल्पने गौरव भवति। व्यवहाराद् अभिधालक्षणाव्यञ्जना-शब्दैर्व्यवहृतत्वात्।कार्यतः प्रातिस्विकार्थबोधनलक्षणाद् भेदो दुरपह्नवो निह्नोतु-मशक्य इत्यर्थः ॥२४॥

कुछ आचार्यो का वृत्ति-भेद के पक्ष में यह भी तर्क है कि परस्पर भिन्न तीन शब्द व्यापारो को अभिन्न मानने मे ही वस्तुतः गौरव दोष होता है, क्योकि व्यवहार द्वारा और कार्य द्वारा जब शब्द व्यापार मे भेद दिखाई पड रहा है, तो उसका अपह्नव नही किया जा सकता ॥२४॥

अथाभिधा लक्षणा च वृत्तिरस्तु द्विधैव यत्।
आद्यायां वा द्वितीयायां व्यञ्जनान्तर्भविष्यति ॥२५॥

मतान्तरमाह—अथेति। व्यञ्जनायाः शक्तौ भक्तौ वान्तर्भावोऽस्तु, तथा लाघव स्यादिति भावः ॥२५॥

नैयायिक आदि कुछ आचार्यों की मान्यता है कि अभिधा और लक्षणा दो ही शब्द व्यापार मानने चाहिए। इनमे से प्रथम अथवा द्वितीय मे अर्थात् अभिधा अथवा लक्षणा मे व्यजना का अन्तर्भाव कर लिया जाएगा ॥२५॥

दीर्घदीर्घाभिधा व्यङ्ग्यानर्थान् बोधयितुं क्षमा।
यत्परन्यायमाश्रित्य व्यङ्ग्यार्थस्यापि वाच्यता ॥२६॥

अभिधायामन्तर्भावं दर्शयति—दीर्घेति। दीर्घदीर्घेति अतिशयार्थे द्विर्भावः। यत्परेति। यत्परः शब्दः स शब्दार्थस्तेन व्यङ्ग्यार्थोऽपि वाच्यार्थ एव ॥२६॥

उनका कहना है कि जिस प्रकार बाण के दीर्घ और दीर्घतर व्यापार आवरण-भेदन, कवच-विदारण, शरीर भेदन और प्राण-हरण आदि होते है, उसी प्रकार शब्द के दीर्घ दीर्घतर अभिधा व्यापार के द्वारा ही व्यग्य अर्थ की प्रतीति भी हो सकती है। वे आचार्य 'यत्परः शब्दः सः शब्दार्थः' इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए व्यग्य अर्थ को भी अभिधाव्यापार-वाच्य मानते है ॥२६॥

अथवा लक्षणा व्यङ्ग्य' प्रत्याययतु केवला ।
उभे वा स्वस्वविषये, न शक्यं कोविदैरिदम् ॥२७॥

लक्षणायामन्तर्भावमाह—अथवेति । प्रत्याययतु, बोधयतु उभे वाच्यं व्यङ्ग्य' च प्रत्याययतामित्यर्थवशाद्वचनपरिणामः ॥२७॥

उनका यह भी कहना है कि यदि अभिधा व्यापार व्यग्यार्थ की प्रतीति मे समर्थ न हो तो लक्षणा व्यापार द्वारा ही उसकी प्रतीति स्वीकार की जा सकती है । अथवा कही-कही अभिधा और लक्षणा दोनो मिलकर व्यग्यार्थ की प्रतीति करा सकने है। इसलिए व्यजना व्यापार की स्थापना करने की आवश्यकता नही है ॥२७॥

किन्तु काव्य-शास्त्र के आचार्य [कोविद] इन तर्कों को स्वीकार नही करते । उनका कहना है कि—

सकृदुच्चरितन्यायाद्वाच्यार्थे विरताभिधा ।
व्यङ्ग्योपपादनेऽशक्ता दीघदीर्घा न सा ततः ॥२८॥

उक्तार्थे हेतु दर्शयति—सकृदिति । सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदर्थं गमयति, शब्दबुद्धिकर्मणा विरम्य व्यापाराभावादिति न्यायाद् वाच्यार्थमात्रविरामं प्राप्ता अभिधा व्यङ्ग्यार्थबोधनेऽसमर्था भवति, ततो दीर्घदीर्घा लक्ष्यव्यङ्ग्यप्रत्यायन-समर्था न भवतीत्यर्थः ॥२८॥

एक बार उच्चरित किया हुआ शब्द वाच्य अर्थ को प्रकट करा देता है और उसके साथ ही अभिधा-व्यापार विरत हो जाता है । अतएव वह अभिधा

व्यंग्य अर्थ की प्रतीति कराने मे समर्थ नही है। इसीकारण अभिधा व्यापार दीर्घ और दीर्घतर नही हो सकता, अतः वह लक्ष्य और व्यग्य अर्थ की प्रतीति नही करा सकता ॥२८॥

यत्परन्यायपक्षे च शब्दार्थत्वं विधीयते।
तात्पर्येण न वाच्यत्वं ततो व्यंग्यत्वमस्तु तत् ॥२९॥

यत्पर इति। यत्परः शब्दः स शब्दार्थ इति मतेऽपि तात्पर्यविषयीभूतस्यार्थस्य व्यङ्ग्यत्वमेव विधीयते, न तु वाच्यत्वमित्यर्थः ॥२९॥

'यत् परः शब्दः स· शब्दार्थः' का यह तात्पर्य नही है कि शब्द से अनन्त अर्थ की प्रतीति होती है। यदि यह मान भी लिया जाए कि जिस प्रयोजन के लिए उसका प्रयोग किया गया है, वही उसका अर्थ है, तो भी यह सिद्ध नही होता कि वह तात्पर्य वाच्य ही है। वक्ता का तात्पर्य व्यग्य भी हो सकता है। [वस्तुतः मीमासा-शास्त्र के उपर्युक्त वाक्य का तात्पर्य यह है कि किसी भी विधि वाक्य का केवल वही अर्थ होता है, जो पूर्व कथित विधि वाक्यो से प्रतिपादित नही है, और इसप्रकार जिस प्रतिपादित अर्थ के लिए वाक्य का प्रयोग हुआ है, वाक्य का वह अर्थ ही मानना चाहिये। क्योकि ऐसा न मानने पर 'यजेत्' इत्यादि विधि वाक्यो का एक बार कथन होने के बाद ही पुनः कथन होने पर अधिकाश स्थलो पर पुनरुक्ति दोष की आशङ्का होगी] ॥२९॥

पौर्वापर्यादिभिर्भेदैर्व्यक्तिः शक्तेर्विलक्षणा।
तत्रान्तर्भवितुं नार्हा धिया सम्यक् परीक्ष्यते ॥३०॥

पौर्वापर्येति। शक्तेः पूर्वत्व तदनन्तरभावित्वाद् व्यञ्जनाया अपरत्वम्, शक्तेरेकार्थबोधकत्व व्यञ्जनायाश्च गतोऽस्तमर्क इत्यादौ युगपदनेकार्थबोधकत्वम् शक्तेः शब्दमात्राश्रयत्व व्यञ्जनायास्तदर्थाश्रयत्वमपीत्येवंविधैर्विशेषैर्व्यञ्जनायाः शक्त्यावन्तर्भावो न युज्यत इत्यर्थः ॥३०॥

क्योकि सर्व प्रथम अभिधा-व्यापार से अर्थ प्रतीति होती है, उसके बाधित होने पर लक्षणा व्यापार से, तथा दोनों व्यापारों से अर्थ प्रतीति होने के अनन्तर व्यजना व्यापार से व्यग्यार्थ की प्रतीति होतो है। अतः व्यजना को अभिधा या लक्षणा मे अन्तर्भूत करना सम्भव नही है। अग्रिम कारिकाओ मे इसी तथ्य का विवेचन किया जा रहा है ॥३०॥

शक्तिः पूर्वा परा व्यक्तिः शक्तिर्बोधस्य कारणम्।
चमत्कारस्य च व्यक्तिः शक्तिः शब्दाश्रया परा ॥३१॥

व्यक्तिर्नानाश्रया शक्तिरेकार्था व्यक्तिरन्यथा।
शास्त्रगम्या भवेच्छक्तिः प्रज्ञागम्या परा मता ॥३२॥

सर्वाधिकारिका शक्तिर्व्यक्तिः सुध्यधिकारिका।
एवं परीक्षितेऽत्यन्तं व्यक्तिः शक्तेर्विलक्षणा ॥३३॥

शक्तिरिति ॥३१॥

व्यक्तिरिति ॥३२॥

सर्वेति। सर्वाधिकारिका सर्वगम्या, व्यक्तिस्तु सुधीबोध्यैव ॥३३॥

अभिधा-व्यापार से पहले अर्थ प्रतीति होती है और व्यजना व्यापार से उसके बाद, अतः अभिधा मे व्यजना का अन्तर्भाव नही किया जा सकता। अभिधा मे व्यजना के अन्तर्भाव संभव न होने के कुछ निम्नलिखित कारण और भी है—१. अभिधा से शाब्द-बोध होता है और व्यजना से चमत्कार प्रतीति। २ अभिधा केवल शब्दाश्रित है, और व्यंजना पद, पदावयव [प्रकृति प्रत्यय] वर्ण, वाक्य, पदार्थ, वाच्यार्थ और व्यग्यार्थ आदि के आश्रित। ३ अभिधा से एक अर्थ की प्रतीति होती है, और व्यजना अनेक अर्थों का बोध कराती है। ४. अभिधा शक्ति का बोध शास्त्र आदि से होता है और व्यजना प्रतिभागम्य है। ५. अभिधेयार्थ बोध के अधिकारी सभी है, जब कि व्यग्यार्थबोध के अधिकारी केवल प्रतिभा-संपन्न सुधीगण है। इस

प्रकार परीक्षा करने पर विदित होता है कि व्यंजना अभिधा से सर्वथा विलक्षण है ॥३१-३३॥

सम्बन्धनियतत्वेन लक्षणा तां न निर्वहेत् ।
यतः सा नार्थधारायां युगपद् वर्तितुं क्षमा ॥३४॥

व्यक्तेर्लक्षणायामन्तर्भावो न भवतीत्याह—सम्बन्धेति । लक्षणायाः शक्यसम्बन्धावश्यभावेन व्यञ्जनायाश्चातथात्वादिति भावः, सा लक्षणा युगपदर्थधारायां 'गतोऽस्तमर्कः' इत्यादावनेकार्थपरम्पराया युगपद् भवितुमशक्ता ॥३४॥

क्योकि लक्षणा अभिधेयार्थ से संबद्ध अर्थ की ही प्रतीति कराती है, साथ ही वह एक साथ अनेक अर्थों की प्रतीति नही करा सकती, अत. लक्षणा मे भी व्यजना का अन्तर्भाव नही किया जा सकता ॥३४॥

न गतार्थानुमानेन व्यञ्जना व्याप्त्ययोगतः ।
शब्दप्रमाणनिष्ठा तु व्यक्तिवृत्तिर्विलक्षणा ॥३५॥

व्यञ्जनाया अनुमानप्रमाणेऽन्तर्भावो न भवतीत्याह—नेति । व्यङ्ग्य व्यजनयो साहचय-नियमाभावादनुमानप्रमाणेन सकलव्यंग्यप्रत्यायनासम्भवादित्यर्थः । फलितार्थमाह—शब्द इति । व्याप्त्ययोगतः (साहचर्यनियमो व्याप्ति) ॥३५॥

महिमभट्ट आदि कुछ आचार्य व्यजना का अन्तर्भाव अनुमान मे करना चाहते है किन्तु अनुमान प्रमाण की गति वही होती है, जहाँ हेतु और साध्य मे व्याप्ति सम्बन्ध हो । वाचक शब्द और व्यग्यार्थ मे कोई व्याप्ति सम्बन्ध नही है, अतः अनुमान मे व्यजना का अन्तर्भाव नही किया जा सकता । फलतः शब्द प्रमाण व्यञ्जना व्यापार अभिधा, लक्षणा और अनुमान से सर्वथा विलक्षण है ॥३५॥

एवं प्रदर्शितास्तिस्रः पदानामेव वृत्तयः ।
तासां प्रयोगेऽङ्गीकारात् प्राग्विभक्त्युदयात् तु न ॥३६॥

एवमिति । पदानामिति । न तु प्रातिपदिकाना धातूनां चेति भावः ॥३६॥

इस प्रकार पूर्व प्रदर्शित तीन वृत्तियाँ पदों मे रहा करती है। ये शब्द-व्यापार क्योकि प्रयुक्त शब्द-निष्ठ है, अतः विभक्ति योजना से पूर्व धातु और प्रातिपादिक आदि मे इनकी सत्ता नही मानी जाती ॥३६॥

विभक्त्यनुदयेऽर्थेषु संकेतस्तु न वार्यते ।
शब्दस्य द्विविधस्यापि नामधातुप्रभेदतः ॥३७॥

विभक्तीति । धातुप्रातिपदिकयो संकेतमात्रसत्त्वे विभक्त्युदये सति व्यापारोदयादिति भावः । यद्यपि धातूना लाक्षणिकार्थसम्भवोऽप्यस्ति, तथापि विभक्त्युदयात् प्राक्तत्प्रतीतेरभावान्न विरोधः ॥३७॥

इसका यह तात्पर्य नही है कि जहाँ भी विभक्तियो का प्रयोग होता है, वहाँ उन विभक्तियो के प्रयोग से पूर्व शब्दो मे संकेत नही है। क्योकि नाम और धातु दोनो मे ही शास्त्रो द्वारा संकेत का निर्देश किया गया। [उपर्युक्त कथन का केवल इतना ही तात्पर्य है कि 'अपदं न प्रयुंजीत' सिद्धान्त के अनुसार बिना विभिक्तियों के शब्दो का प्रयोग नही किया जाता और इसके फलस्वरूप उनसे अर्थ-बोध का अवसर नही मिल सकता] ॥३७॥

सत्तायामेव संकेतो नाम्नो धातोश्च दर्शितः ।
अद्वैतवादिभिः सैव जात्यादित्वेन संमता ॥३८॥

वेदान्तमते विशेषमाह—सत्तायामिति । तस्या एव जात्यादिरूपत्वादिति भावः ॥३८॥

प्रत्येक नाम एवं धातु शब्दो मे वस्तुओ अथवा क्रियाओ की सत्ता के प्रति ही संकेत स्वीकार किया गया है। अद्वैत वेदान्त के अनुयायी भी इसी सत्ता को जाति आदि के रूप मे स्वीकार करते है ॥३८॥

विभक्तेरुदये सैव प्रयुक्तेन निरूप्यते ।
नाम्ना वा धातुना वापि वर्णिताभिस्तु वृत्तिभिः ॥३९॥

विभक्तेरिति । सैव सत्तैवेत्यर्थः ॥३९॥

धातु आदि मे निर्दिष्ट सत्ता आदि अर्थ की प्रतीति नाम अथवा धातुओ से विभक्ति का प्रयोग करने ने बाद विभक्त्यन्त प्रयुक्त शब्द से पूर्व वर्णित व्यापारो द्वारा होती है ॥३९॥

सा सत्तैव परं ब्रह्म शब्दो ब्रह्म परं स्मृतम् ।
द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये इति श्रुत्यनुशासनम् ॥४०॥

सेति । सार्थत्रयरूपेत्यर्थः । तथा च श्रुतिः—

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परञ्च यत् ।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः पर ब्रह्माधिगच्छति । इति ॥४०॥

व्याकरण-शास्त्र के आचार्यों के अनुसार त्रिविध अर्थ रूप वह सत्ता ही परब्रह्म है, और शब्द भी परब्रह्म है, और इसीलिए द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये इत्यादि वैदिक निर्देश दिया गया है । जैसा कि कहा है—

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परञ्च यत् ।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः पर ब्रह्माधिगच्छति ॥इति॥

अर्थात् दो ब्रह्म है, जिन्हे जानना चाहिए । प्रथम शब्द ब्रह्म और द्वितीय पर-ब्रह्म । जो शब्द ब्रह्म को जान लेता है, वह पर ब्रह्म को भी प्राप्त कर लेता है ॥४०॥

शब्दब्रह्मविचारेण परं ब्रह्मावगम्यते ।
शब्दवृत्तिविचारोऽयं कृतस्तेऽस्माच्छिवप्रदः ॥४१॥

शब्दब्रह्मेति । शिवप्रद. कल्याणदायकः, यथाह भगवान् भाष्यकार — 'एक शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति" इति — ॥४१॥

क्योकि शब्द ब्रह्म का विचार करने से परब्रह्म की प्राप्ति होती है, अतः शब्द व्यापार के सम्बन्ध मे किया गया यह चिन्तन तुम्हारे लिए कल्याणकारी हो ॥४१॥

शिवस्य भक्त्या समवाप्तसिद्धि-
र्धीनीरधी रामजिभट्ट आसीत् ।
तत्सूनुनाशाधरभट्टनाम्ना
ग्रन्थः कृतोऽयं सुधियां मुदेऽस्तु ॥४२॥

शिवस्येति । अन्ते शिवशब्दो मङ्गलार्थः ॥४२॥

इति श्रीपदवाक्यप्रमाणपारावारीणरामजिभट्टात्मजाशाधरभट्टविरचितायां[1] कादम्बिनीसमाख्याया स्वकृतकोविदानन्दव्याख्याया व्यंजनापरिच्छेदस्तृतीयः ॥ सटीकः कोविदानन्दः समाप्तः ॥

शिव की भक्ति से सिद्धि को प्राप्त बुद्धि के समुद्र श्री रामजी भट्ट थे। आशाधर भट्ट नामक उनके पुत्र द्वारा किया गया यह ग्रंथ विद्वानो को आनन्द देने वाला हो ॥४२॥

व्याकरण, मीमासा और न्याय के पारगत विद्वान् रामजीभट्ट के पुत्र आशाधर भट्ट विरचित 'कोविदानन्द' मे 'व्यक्ति-निर्णय' नामक तृतीय परिच्छेद पूर्ण हुआ ।

इति श्री अवस्थ्युपाह्वस्य पण्डितलक्ष्मणशर्मण पौत्रेणा ब्रह्मनिष्ठस्य श्री रविनाथशर्मणः पुत्रेण महमहोपाध्यायडाक्टरादिविविधोपाधिभाजा विविधविद्यापारङ्गतेन ब्रह्ममित्रावस्थिना तत्पुत्र्या इन्दुकुमार्या च कृता कोविदानन्द दीपिका सम्पूर्णा ।

---

१. कादम्बिनी मेघमालेति हैमः । कादम्बिनीव कादम्बिनी । यथा मेघमाला कुत्रचिद् घनीभूता कुत्रचिच्च स्वल्पा तद्वदियमपि श्लोकेष्विति ।

कोविदानन्दस्थार्धश्लोकानुक्रमणी

कोविदानन्दकादम्बिन्यामुद्धृताः ग्रन्थाः